TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180945

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82·09 R13S Accession No. P. H246

Author रत्नकुमारी देवी 'काव्यतीर्थ'.

Title सेठ गोविन्ददास के नाटक · 1939.

This book should be returned on or before the date last marked below.

महाकोशल-साहित्य-माला—१० वाँ ग्रंथ

सेठ गोविन्ददास

के

नाटक

(आलोचना और उद्धरण)

आलोचना व निबन्ध

लेखिका

रत्नकुमारी देवी 'काव्यतीर्थ'

प्रकाशक.....

महाकोशल-साहित्य-मन्दिर

गोपालबाग, जबलपुर

प्रथम बार] १९३९ [मूल्य ॥) ॥)

प्रकाशक —
महाकोशल-साहित्य-मन्दिर
गोपालबाग, जबलपुर

सर्वाधिकार स्वरक्षित

मुद्रक—
हरप्रसाद वाजपेयी
कृष्ण-प्रेस,

दो शब्द

पिताजी के नाटकों पर मैं कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखना चाहती थी। उनके जीवन चरित के लिए मैंने उनके नाटकों के कुछ उद्धरणों को छाँटा। वे इतने अधिक हो गये कि उनके जीवन चरित के साथ उनका छपना संभव न था।

मैं कोई आलोचक नहीं हूँ अतः इस पुस्तक में पिताजी के नाटकों की ठीक आलोचना हुई है, यह कहने का मैं साहस नहीं कर सकती। फिर भी मैंने उनके नाटकों को एक बार से अधिक पढ़ा है, उन्हें समझने का प्रयत्न किया है और उनका आलोचक की दृष्टि से अध्ययन भी किया है। यह पुस्तक उनके नाटकों को समझने में सहायता कर सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

राजा गोकुलदास-महल
जबलपुर
वसन्त पंचमी सं० १९९५

—रत्नकुमारी

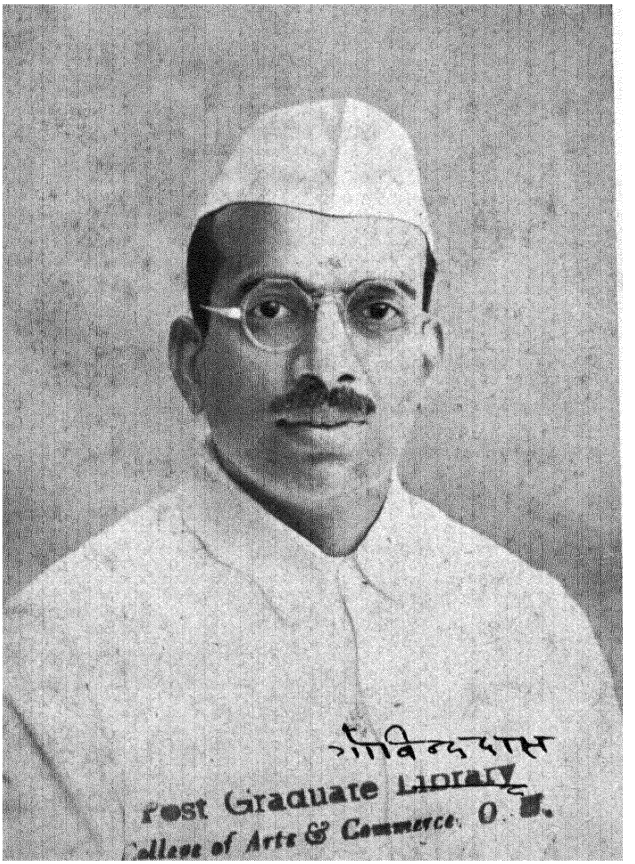

सेठ गोविन्ददास
(सन् १९३८)

आलोचना

सेठ गोविन्ददास जी ने बहुत छोटी अवस्था से साहित्य-संघ आरम्भ किया था। पहले उन्होंने छोटे छोटे कुछ उपन्यास लिखे, फिर कविताएँ, फिर नाटक। उन्होंने अपने 'तीन नाटक' ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि अपनी बचपन की रचनाओं को वे 'खिलौना' समझते हैं। बचपन की रचनाएँ सचमुच खिलौना ही होती हैं। परन्तु जिस प्रकार खिलौना से खेलते-खेलते बच्चों के हृदय में न जाने कितने नये नये विचारों का प्रवेश होता है और जो विचार आगे चलकर उनके मानसिक विकास में बीज का काम देते हैं वही बात लेखक की आरम्भिक रचनाओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनके बचपन में लिखे हुए उपन्यास और कविताओं को यदि छोड़ दिया जाय तो उनका पहला ग्रन्थ 'विश्व प्रेम' नामक नाटक है जो उन्होंने सन् १९१७ में लिखा। इस नाटक के पढ़ने से ही पता लग

जाता है कि उनमें नाटक लिखने की स्वाभाविक क्षमता थी। इसके बाद सन् १९३० तक वे कुछ न लिख सके। सन् १९३० में जेल में उन्होंने फिर पढ़ना लिखना आरम्भ किया और सन् १९३४ तक तीन बार के जेल जीवन में उन्होंने तेरह नाटक और लिख डाले। उनके इन १४ नाटकों में 'कर्तव्य' पौराणिक, 'हर्ष' 'धुआँधार' और 'विश्वासघात' ऐतिहासिक, 'प्रकाश', 'सेवा-पथ' 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' 'दलित-कुसुम' 'स्पर्द्धा', 'बड़ा पापी कौन?' 'ईर्षा' और 'विश्वप्रेम' सामाजिक एवं 'विकास' तथा 'नवरस' दार्शनिक हैं।

इनमें से 'कर्तव्य', 'हर्ष' और 'प्रकाश' पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। 'स्पर्द्धा' 'सरस्वती' में और 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' 'हंस' में प्रकाशित हुए थे। 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' को प्रकाशित करने के कारण तो उस पत्र से ज़मानत तक मांगी गयी थी। और बहुत समय तक वह बन्द भी रहा। इसके बाद में 'स्पर्द्धा' और 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए। 'विश्व-प्रेम' सन् १९१७ में ही बड़ी सफलता पूर्वक खेला गया था। 'धुआंधार' और 'दलित कुसुम' के फिल्म बने हैं। नाटकों के सिवा नाट्य साहित्य और कला पर गोविन्ददास जी ने एक गवेषणा पूर्ण निबन्ध भी लिखा है। यह उनके 'तीन नाटक' के प्राक्कथन के रूप में 'तीन नाटक' के साथ तथा 'नाट्यकला मीमांसा' के नाम से पृथक् पुस्तिका में भी प्रकाशित हुआ है।

कुछ काल पहले नाटक और कविता में बड़ा निकट का सम्बन्ध माना जाता था। इसका कारण यह था कि नाटकों में कविता होना अनिवार्य था, परन्तु आज परिस्थिति बिल्कुल भिन्न हो गयी है। नाटककार का पद्य में लिखने वाला कवि होना कोई आवश्यक बात नहीं है। पश्चिम के आधुनिक सफल नाटक-कारों में बहुत कम इस प्रकार के कवि हैं। यथार्थ नाटक-कार का आलोचक होना आवश्यक है। आलोचना के लिए अध्ययन तथा समाज का बारीक ज्ञान होना ज़रूरी है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हरेक आलोचक नाटककार हो सकता है। आलोचक होते हुए भी नाटक लिखने में जो अन्य बातें आवश्यक हैं वे जब तक किसी व्यक्ति में न हों तब तक वह नाटककार नहीं हो सकता। गोविन्ददास जी पद्य लिखने वाले कोई सुकवि नहीं हैं, वे नाटककार हैं। उनके नाटक उनके अध्ययन, समाज का बारीकी से निरीक्षण, प्रौढ़ विचार और कल्पना की सहायता के कारण कला के बड़े अच्छे नमूने हैं।

कौन सी श्रेष्ठ कला है और उस कला-जन्य वस्तु में कौन सी श्रेष्ठ वस्तु है इस विषय में गोविन्ददास जी ने रोमाँरोला और जान रस्किन के दो बड़े सुन्दर उद्धरण अपने 'तीन नाटक' की भूमिका में दिये हैं। कला की दृष्टि से जाँच करने पर गोविन्ददास जी की कला की सृष्टि इन दोनों उद्धरणों के अनुसार ही हुई है और वह कैसी है यह जानने का सबसे

अच्छा तरीका यही है कि वे दोनों उद्धरण ही यहाँ फिर उद्धृत कर दिये जायँ।

रोमारोलाँ ने श्रेष्ठकला के सम्बन्ध में अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'ज्यांक्रिस्टोफ़ीन' में एक स्थान पर लिखा है—

"कला के लिए कला! क्या ही अच्छा धर्म है। परन्तु यह धर्म तो बलवानों का है। कला! जीवन को वैसे ही जकड़ कर पकड़ना जैसे गरुड़ अपने शिकार को पकड़ता है, उसे लेकर ऊपर उठना, गगन मण्डल की अखण्ड शान्ति में उसे लेकर उड़ जाना। इसके लिए तुम्हें सुदृढ़ पंजों, महान् पंखों और बलशाली हृदय की आवश्यकता है। परन्तु तुम हो क्या? तुम हो मकानों में फुदकने वाली मामूली चिड़िया, जिसे ज्योंही मांस का नन्हाँ-सा टुकड़ा मिल जाता है, त्योंही उसपर इधर-उधर चोंच मारकर, अपनी-सी दूसरी चिड़ियों से लड़ते हुए चें चें करती है। कला के लिए कला! रे तुच्छ मनुष्य! कला वह मार्ग नहीं है जिस पर अपने को पथिक समझने वाले सभी चल सकें। इसपर कहा जायगा कि क्यों नहीं, जब कि कला में मज़ा है, जब कि उसमें सबसे अधिक मस्ती है। परन्तु याद रखो, यह वह आनन्द है जो लगातार कड़े से कड़ा युद्ध करने पर ही मिलता है—यह वह विजय-माला है जिसके पहनने का सौभाग्य बलशाली के हृदय को ही प्राप्त होता है। कला का अर्थ है—नियंत्रित, संयमित, मर्यादित जीवन। कला जीवन का सम्राट है। सीज़र के समान

सम्राट होने के लिए सीज़र की-सी बलवती आत्मा चाहिए। परन्तु तुम सम्राट होना तो दूर रहा, साधारण राजाओं की छाया मात्र हो, तुम साधारण अभिनेता हो, परन्तु इतने कुशल अभिनेता भी नहीं कि अपने अभिनय में अपने को भी भूल सको। जिस प्रकार ये अभिनेता अपनी शारीरिक त्रुटियों तथा दोषों के द्वारा पैसा पैदा करते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपनी मानसिक तथा आत्मिक त्रुटियों से लाभ उठाते हो। तुम अपनी तथा जनता की कुरूपता का उपयोग कर साहित्य गढ़ते हो। तुम जान बूझ कर तत्परता से अपने देश-वासियों की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बीमारियों, उनकी कायर प्रयत्न हीनता, उनकी शारीरिक सुख की लिप्साओं, उनकी कामुक मनोवृत्तियों, उनकी काल्पनिक मनुष्य-हित कामनाओं को बढ़ाकर अपना स्वार्थ साधते हो। तुम उन सभी प्रवृत्तियों को, जो इच्छा-शक्ति को कमजोर करती हैं, जो कर्मण्यता को खोखला करती हैं, उत्तेजना देते हो। तुम अपने उपदेशों से अपने राष्ट्र के मन को मुर्दा करते हो। तुम्हारे साहित्य के, तुम्हारे उपदेश के मूल में ही मृत्यु है। तुम जानते हो, परन्तु स्वीकार न करोगे। परन्तु मैं तुमसे कहूँगा कि जहाँ मृत्यु है, वहाँ कला नहीं है। कला तो जीवन का स्रोत है। परन्तु तुम्हारे सबसे अधिक ईमानदार समझे जानेवाले लेखक तक इतने कायर हैं कि उनकी आँखों की पट्टी खुल जाने पर भी वे न देख सकने का बहाना करते हैं। वे धृष्टता पूर्वक कहते हैं—हाँ, कला के

लिए कला का सिद्धान्त खतरनाक है, ज़हरीला है, परन्तु उसमें बुद्धि है, प्रतिभा है। वाह! कितना विचित्र तर्क है—मानों किसी गुण्डे को सज़ा सुनाते हुए न्यायाधीश कहे—'यह पापी अवश्य है, परन्तु इसमें बड़ी बुद्धि है, बड़ी प्रतिभा है'।"

श्रेष्ठ कला की वस्तुओं में कौन महान है इस सम्बन्ध में जान रस्किन लिखते हैं—

"अब मैं उत्तम कला-जन्य वस्तु की व्याख्या इतने व्यापक रूप से करना चाहता हूँ, कि उसके अन्तर्गत उसके समस्त विभाग और उद्देश आ जावें। इसीलिए मैं यह भी नहीं कहता कि वही कला-जन्य वस्तु सर्वोत्तम है जो सबसे अधिक आनन्द देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् शिक्षा देना हो और आनन्द देना न हो। मैं यह भी नहीं कहता कि कला-जन्य वही वस्तु सर्व-श्रेष्ठ है जो सबसे अधिक शिक्षा देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित आनंद देना ही हो और शिक्षा देना न हो। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि कला-जन्य वही वस्तु सबसे अच्छी है, जिसमें सबसे अधिक अनुकरण किया गया हो, क्योंकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश नवीनता का निर्माण करना हो और अनुकरण करना न हो। और मैं यह भी न कहूँगा कि कला-जन्य वही वस्तु सर्वोत्कृष्ट है जिसमें सबसे अधिक नवीनता हो, क्योंकि कदाचित कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश अनुकरण करना हो और नवीनता का निर्माण नहीं। मैं तो उस वस्तु को कला की सबसे महान् वस्तु मानता

हूँ जो किसी भी मार्ग-द्वारा हृदय में सबसे अधिक और सबसे महान विचारों को उत्पन्न कर सके।"

इस कला की कसौटी पर खरे उतरने के लिए नाटकों में जिन गुणों की आवश्यकता गोविन्ददास जी समझते हैं, वे भी उन्होंने अपने 'तीन नाटक' की भूमिका में दिये हैं। उन्होंने लिखा है—

"नाटक में सर्व प्रथम किसी 'विचार' (Idea) की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहाँ साधारण विचार न होकर जीवन की कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के पश्चात् उस विचार के विकास के लिए 'संघर्ष' (Conflict) अनिवार्य है। संघर्ष वाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार का आवश्यक है। वाह्य संघर्ष किसी एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति का अथवा किसी एक व्यक्ति के साथ समाज या राष्ट्र का अथवा पुरुषवर्ग के साथ स्त्री वर्ग का हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष एक ही व्यक्ति के हृदय का संघर्ष है। इसे वाह्य संघर्ष से अधिक महत्व है। यह संघर्ष एक भाव के साथ दूसरे भाव तक का होता है और प्रतिक्षण इसमें परिवर्तन होता है। नाटक में, यहीं, मनोविज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर मिलता है। इस विचार और संघर्ष की संबद्धता और मनोरंजकता के लिए 'कथा' (Plot) की सृष्टि होती है। कथा बिना पात्रों के नहीं हो सकती, अतः पात्रों का प्रादुर्भाव तथा उनका चरित्र-चित्रण होता है, और चूँकि नाटक की कथा लेखक-द्वारा नहीं कही जा

सकती इसलिए पात्रों की कृति और कथोपकथन ही उस कथा के कथन के साधन हैं।

जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होंगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।

इस उत्तमता और सफलता के लिए इन सब अंगों की एक दूसरे के संग में इस प्रकार की संबद्धता आवश्यक है जिससे सारे नाटक पर 'एकता' (Universality) के वायुमण्डल की स्थापना हो सके।"

अब यहाँ उनके उच्च कोटि के कुछ नाटकों का परिचय तथा उनके कुछ उद्धरण दिये जाते हैं।

पौराणिक नाटक

गोविन्ददास जी का 'कर्तव्य' पौराणिक नाटक है। उसमें राम और कृष्ण की जीवन-कथायें हैं। इस नाटक के दो भाग हैं। पूर्वार्ध में रामकथा है और उत्तरार्ध में कृष्णकथा। नाटक में कृष्ण को राम का ही पुनर्जन्म माना गया है। राम और कृष्ण पर आज तक न जाने कितने कवियों ने कितने कितने बृहत् ग्रन्थ लिख डाले हैं। राम और कृष्ण की जीवन कथाओं और उनके चरित्रों में तो गोविन्ददास जी ने भी कोई परिवर्तन नहीं किया है, पर इन पुरानी कथाओं और पुराने चरित्रों को उन्होंने सर्वथा नये ढंग से उपस्थित किया है। यह है दोनों चरित्रों की कार्य करने की भावनाएँ और कर्तव्य करने की प्रणाली। इसीलिए इस नाटक का नाम 'कर्तव्य' है। दोनों की भावनाएँ और उन भावनाओं के अनुसार कर्तव्य करने की प्रणालियाँ एक दूसरे से ठीक विरुद्ध हैं। राम की भावनाओं तथा कर्तव्य-पालन में

कर्तव्य

झिझक है, इसीलिए उन्हें अपने कर्तव्य-पालन में, वह पालन हर दृष्टि से महान होते हुए भी, पूर्ण सुख प्राप्त नहीं होता। कृष्ण की भावनाओं में किसी प्रकार की झिझक नहीं है। वे अपने कर्तव्यों का निशंक होकर पालन करते हैं। उन्हें अपने कर्तव्य-पालन में पूर्ण सुख है। इस नाटक में गोविन्ददास जी ने राम और कृष्ण दोनों के ही जीवन में से इस प्रकार की घटनाओं को खोजकर निकाला है जो यद्यपि समान परिस्थिति की घटनाएँ कही जा सकती हैं, परन्तु समान परिस्थिति में भी दोनों की कृतियों की भावनाएँ एक दूसरे से ठीक विपरीत हैं।

पूर्वार्ध का आरम्भ राम के राज्याभिषेक के समय से और अन्त उनके स्वर्गारोहण से होता है। उत्तरार्ध का आरम्भ कृष्ण के गोकुल से मथुरागमन और अन्त उनकी गोलोक-यात्रा से होता है। राम और कृष्ण के जीवन की सभी महत्व पूर्ण घटनाओं का इस नाटक में समावेश हो गया है। परन्तु राम के जीवन की अत्यधिक विख्यात घटनाओं जैसे वनगमन के समय राम का लक्ष्मण, सीता, कैकेयी, कौशिल्या, आदि से संवाद, और रावण-वध अथवा कृष्ण की बृज लीलाएँ, कंस-वध आदि का नाटक में कथा के सूत्र को क्रमबद्ध रखने के लिए उल्लेख मात्र है। गोविन्ददास जी ने उन घटनाओं का ही विस्तार से वर्णन किया है जिनमें समान परिस्थिति में भी राम और कृष्ण की भावनाएँ तथा कृतियाँ एक दूसरे से ठीक विपरीत हैं। समान परिस्थति में भी इन भावनाओं और कृतियों का

एक दूसरे के ठीक विपरीत विवेचन इस नाटक में देखते ही बनता है।

उषःकाल का समय है। राज्याभिषेक के लिए राम तैयार हो रहे हैं। उनके निकट ही सीता खड़ी हैं। राम भूषणों को धारण करते हुए सीता से कहते हैं—

"राम—(हार पहन चुकने पर कुण्डल पहनते हुए) देखना है, प्रिये, इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। ..... वैदेही, किसी कार्य का उत्तरदायित्व संभालने के पूर्व यह काय जितना सरल जान पड़ता है उतना दायित्व ग्रहण करने के पश्चात् नहीं। ..... फिर किसी कार्य को करने के पश्चात् उसके फल का शुभाशुभ प्रभाव हृदय पर पड़े बिना नहीं रहता ..... मैथिली, आदर्श ऊँचा, बहुत ऊँचा है। प्रजा में कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक दृष्टि से दुखी न रहे, अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को अपने सर्वस्व की आहुति देनी पड़े तो भी वह पीछे न हटे, राजा के लिए कहीं भी, किसी प्रकार की भी, बुरी आलोचना और अपवाद न सुन पड़े। वैदेही, यह महान् उच्च आदर्श है।"

यहीं से पूर्वार्ध का आरम्भ होता है और इन्हीं भावनाओं से राम के कर्तव्य पालन का प्रारम्भ होता है। राम के जीवन का उद्देश्य, उद्देश्य में आदर्श, और इस आदर्श उद्देश्य के पूर्ण

होने में जिस शंका का बीज राम के इस भाषण में दिखता है उसी को हम उनके सारे जीवन में देखते हैं। गोविन्ददास जी ने नाटक के पूर्वार्ध में मुख्यतः पाँच स्थलों पर राम की कृतियों के समय इन भावनाओं का दिग्दर्शन कराया है। (१) उनका वन-गमन (२) बालि का वध-काल (३) लंका विजय के पश्चात् सीता को ग्रहण करने का अवसर (४) शम्बूक-वध (५) राम का स्वर्गारोहण।

वन जाते समय राम रथारूढ़ हो राज-प्रासाद से बाहर निकल रहे हैं। अयोध्या का अपार जन-समुदाय दुःख से कातर होकर राज्य मार्ग पर खड़ा है। राज्य के ही रथ पर उन्हें अयोध्या की सीमा के बाहर तक पहुँचाने के लिए वशिष्ठ बैठे हुए हैं। वसिष्ठ उनसे पूछते हैं—

"वसिष्ठ—इस अपार जन समुदाय के बीच से कैसे निकल सकोगे राम ?"

राम पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर जाना तो चाहते हैं परन्तु वे भी दुःख से कातर हैं। राम उत्तर देते हैं—

"राम—आपके प्रयत्न से प्रभो ! अपने पर प्रजा का यह अत्यधिक प्रेम देख, इनके वियोग से क्या मुझे दुःख न होगा ? परन्तु पूज्यपाद पिता जी की आज्ञा का तो अक्षरशः पालन करूँगा, भगवन्।"

बालि और सुग्रीव का युद्ध हो रहा है। वृक्ष की ओट में खड़े हुए राम बालि को अपने बाण का निशाना बनाने वाले

हैं, परन्तु युद्ध में यह अधर्म उनके चित्त को व्यथित किये हुए है। वे अपने पास खड़े हुए लक्ष्मण से कहते हैं—

"राम—(बाण संभाल कर, पर फिर हाथ ढीला कर) नहीं नहीं, लक्ष्मण, इस प्रकार छिपकर मुझसे कोई न मारा जायगा। बिना यह अधर्म किये यदि जानकी की खोज नहीं हो सकती, यदि उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती तो न हो, पर युद्ध में यह अधर्म करना मेरे लिए सम्भव नहीं है।"

"लक्ष्मण—(जल्दी से) इस समय यह सोचने का समय नहीं है, तात, और न सीता देवी के खोज एवं उनकी प्राप्ति का ही प्रश्न है; अब यह प्रश्न है जिसे आपने मित्र बनाया है, उसकी प्राण रक्षा का। शीघ्रता कीजिए, शीघ्रता कीजिए, नहीं तो वह बालि सुग्रीव के प्राण ही ले लेगा। यह मित्र के प्रति विश्वासघात होगा; धर्मात्मा के प्राण अधर्मी के लिए जायेंगे, रघुवंशियों में ऐसा विश्वासघात कभी नहीं हुआ।

"राम—(घबड़ाकर) पर यह तो एक ओर कूप और दूसरी ओर खाईं है, वत्स। जिस समय प्रतिज्ञा हुई थी उस समय ये भाव इतने उत्कट रूप से मेरे हृदय में नहीं उठे थे।

"लक्ष्मण—(बहुत जल्दी) पर, आपके इस विचार ही विचार में उसके प्राण जा रहे हैं, आर्य! आपने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की है; प्रतिज्ञा की है। चलाइये, चलाइये बाण, तात, नहीं तो मुझे ही आज्ञा दीजिए मैं ही बालि का बध कर दूँ। (धनुष पर बाण चढ़ाते हैं)

"राम—नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है कि मैं अपना कर्तव्य न कर पाप तुम पर डालूँ। (कुछ ठहर कर, उस ओर देखते हुए) सचमुच ही अब तो उसके प्राण कण्ठगत ही हैं। अच्छी बात है, लक्ष्मण, यही हो, अपने कर्तव्य की ओर इतना लक्ष्य रखते हुए भी यदि राम के हाथ से पाप ही होना है तो वही हो, लक्ष्मण वही हो।" (बाण छोड़ते हैं)

रावण-वध हो चुका है। बद्ध सीता अशोक वाटिका से निकल पति से मिलने झपटी हुई आ रही हैं। ज्योंही सीता राम को स्पर्श करना चाहती हैं त्योंही वे कहते हैं—

"राम—ठहरो मैथिली, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नहीं हो।

[सीता स्तंभित हो जाती हैं, लक्ष्मण आश्चर्य से एक टक राम की ओर देखने लगते हैं। सारा जनसमाज चौंक पड़ता है। निस्तब्धता छा जाती है। कुछ देर पश्चात् राम धीरे धीरे बोलते हैं।]

"बन्धुओ, जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मैं यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवंश के निर्मल आकाश में मैं धूमकेतु के तुल्य हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैंने आप लोगों की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवंश की प्रतिष्ठा रह गई; पर, पर-गृह में रही हुई स्त्री का, चाहे वह मुझे प्राणों से प्रिय क्यों न हो, ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है; यह धर्म की,

मर्यादा और नीति की सत्ता का उल्लंघन होगा। जिस मर्यादा के बाहर मैं बाल्यावस्था से ही कभी नहीं गया हूँ और जिसके लिए मैं चौदह वर्ष को वन हो आया हूँ, उस धर्म और नीति की मर्यादा का उल्लंघन मेरे लिए असम्भव है।"

सीता अग्नि-परीक्षा का प्रस्ताव करती हैं। राम उत्तर देते हैं—

"राम—मैथिली, यदि अग्नि भी तुम्हें भस्म न कर सकी, तो मैं तुम्हें अवश्य ग्रहण कर लूँगा।"

वसिष्ठ की आज्ञा से शूद्र तपस्वी शंबूक का वध करने राम दण्डकारण्य में जाते हैं। वे शंबूक से तप छोड़ने का अनुरोध करते हैं। उस समय का शम्बूक और राम, तथा राम और लक्ष्मण का संवाद श्रवण करने योग्य है।

"शम्बूक— .....राम, यह विवाद निरथक है। मैं योग-बल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म में समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी न टूटेंगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोड़ने के निमित्त नहीं। मैं अपना संकल्प न छोड़ूँगा, तुम अपना काम करो, इस हत्या के पश्चात् भी मुझे तो मोक्ष ही मिलेगा।

[राम उसका भाषण सुन गहरे सोच में पड़ जाते हैं। इधर उधर टहल एक ओर हट लक्ष्मण से कहते हैं।]

"राम—यह अब कैसा रहस्य है, वत्स! मर्यादा का उल्लंघन सचमुच ही मेरे लिए असम्भव है। इस शूद्र के कथन

में मैं भारी सत्य देखता हूँ। पर, फिर भी इसे इसी प्रकार छोड़ इस हत्या से विमुख होने में मुझे ऐसा भास होता है कि मेरा राज्य-कर्तव्य भंग हो रहा है, धर्म की मर्यादा टूट रही है। लक्ष्मण, लक्ष्मण, यह सब क्या है? ताड़का की स्त्री-हत्या करना इसलिए कर्तव्य था कि वह दुष्टा थी तथा ऋषियों को कष्ट देती थी, बालि का अधर्म से भी निधन करना इसलिए कर्तव्य था कि वह अधर्मी था, मित्र से उसके वध करने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका था और इस निःशस्त्र तपस्वी की हत्या? आह! वह इसलिए आवश्यक है कि शूद्र का तपस्या करना प्रचलित धर्म के विरुद्ध है, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व मैंने ग्रहण किया है।

"लक्ष्मण--हाँ, महाराज, ऐसी ही समस्या है।

"राम—ओह! आज के समान संकल्प-विकल्प तो हृदय में कभी नहीं उठे। न जाने राम के हाथ से अभी क्या-क्या होना बदा है। (कुछ ठहरकर) जो कुछ हो, धर्म मर्यादा की रक्षा करना मेरा तो कर्तव्य है, चाहे यह तपस्वी हो अथवा निःशस्त्र। यह तपस्या नहीं छोड़ना चाहता, अतः इसे मारने के अतिरिक्त मेरे लिए और कौन मार्ग है? कोई नहीं—लक्ष्मण, कोई नहीं। ..... (तलवार निकाल, आगे बढ़, शंबूक पर प्रहार करते हुए) आह! लक्ष्मण, आह! लक्ष्मण, यह कैसी विडम्बना है? यह कैसा कर्तव्य है?"

सीता का पृथ्वी-प्रवेश हो चुका है और राम को लक्ष्मण का

भी त्याग करना पड़ा है। लक्ष्मण इस त्याग के कारण सरयू में प्रवेश कर देह त्याग करते हैं। उनकी चिता पर उर्मिला सती होना चाहती है। राम अपने अन्य भाइयों, वसिष्ठ तथा अयोध्या के पुरवासियों के साथ स्मशान भूमि में उपस्थित हैं। अब राम से अपना शोक नहीं सहा जाता। वे रो पड़ते हैं। यहाँ उनका और वसिष्ठ का संवाद राम के सारे चरित्र को समझने के लिए मननीय है।

"वसिष्ठ—शोक नहीं, राम, शोक नहीं। तुमने तो संसार के सम्मुख मनुष्य-जीवन का ऐसा आदर्श उपस्थित किया है, जैसा आज पर्यन्त किसी ने नहीं किया। कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोड़ा, परम प्रिय सती-साध्वी पत्नी का चिर वियोग सहा और अन्त में प्राणों से प्यारे भ्राता को भी खो दिया। अगणित स्वार्थों को त्याग तुमने प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है। राम, राम-राज्य के समान राज्य कभी नहीं हुआ, जिसमें प्रजा को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई भी क्लेश कभी नहीं पहुँचा।

"राम—· · · · मेरे सम्बन्ध में आपने जो कहा वह ठीक हो सकता है, नाथ, परन्तु मैंने यह सब स्वयं को खोकर पाया है। ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि अब तक मेरे मन में है, बालि को अधर्म से मारने की लज्जा से अब तक मेरा हृदय लज्जित है, निःशस्त्र शम्बूक के वध से अब तक मेरा अन्तःकरण व्यथित है, फिर पिता की मृत्यु का मैं ही कारण हूँ, पत्नी को

मेरे कारण क्लेश भोगना पड़ा, अन्त में इस भ्राता ने भी, कैसे भ्राता ने, प्रभो, जैसा भ्राता आज पर्यन्त किसी ने नहीं पाया मेरे ही कारण अपने प्राण त्याग किये, मेरी कृति के ही फलस्वरूप यह वधू उर्मिला मेरे सम्मुख, मेरे जीवित रहते, सती होने जा रही है। नाथ, मैं समझता था कि कर्तव्य-पालन से संसार को सुखी करने के संग मनुष्य स्वयं भी सुखी होता है। पर नहीं, यह मेरा भ्रम ही निकला; मैं तो सदा दुःख से पीड़ित रहा, भगवन्।

"वसिष्ठ—कर्तव्य-पालन से स्वयं को सुख प्राप्त होता है, राम, अवश्य होता है और वह सुख अनन्त होता है, परन्तु जब तक कर्म के सुफल और कुफल का प्रभाव हृदय पर पड़ता है तब तक वह सुख नहीं मिल सकता। निष्काम कर्म कह देना बहुत सरल है, पर इस स्थिति का अनुभव एक जन्म में नहीं, अनेक जन्म के पश्चात् बिरला मनुष्य ही कर सकता है; वही जीवन मुक्त की अवस्था है, जहाँ द्वन्द्व नहीं रह जाता, वहाँ मनुष्य स्वयं और सकल विश्व में भिन्नता का नहीं, किन्तु समानता का अनुभव करता है। जीवन रहते कर्म करना ही पड़ता है, अतः इस जीवन मुक्त अवस्था में ऐसे व्यक्ति से विश्व के कल्याणकारी कृत्य आप से आप होते रहते हैं और इनको करने में ही उसे सुख मिलता है। पर लो, राम, इस समय तो इस समय के कर्तव्य का पालन करो। लक्ष्मण के पुत्र यहाँ नहीं हैं अतः शास्त्रानुसार ज्येष्ठ अथवा लघुभ्राता ही अग्नि संस्कार कर सकता

है। तुम्हें और शत्रुघ्न को ही यह अधिकार है, अतः लो इस समय का कर्तव्य पूर्ण करो।

"राम—यह भी करना होगा, भगवन्, यह भी ? पर नहीं प्रभो, नहीं, शत्रुघ्न ही यह करें। अब तो सहा नहीं जाता, नाथ, असह्य हो चुका। इस क्षीण देह और भग्न हृदय पर यह अन्तिम चोट थी। (दोनों हाथों से हृदय को संभालते हुए) हृदय में अत्यन्त पीड़ा हो रही है, देव, अत्यन्त। (सामने देख चौंकते हुए) ठहरिये, ठहरिये; देखिये, देखिये; वह सामने कौन है ? देखिये, प्रभो, वह सामने से कौन मुझे बुला रहा है ? आप कहते हैं न कि कर्तव्य पालन से अनन्त सुख की प्राप्ति एक जन्म में न होकर अनेक जन्म में होती है, आप कहते हैं न कि कर्म के सुफल और कुफल के प्रभाव का हृदय पर पड़ना एक जन्म में नहीं अनेक जन्म के पश्चात् मिटता है, देखिये, देखिये, वह कहता है कि इस जन्म का मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। वह मुझे शीघ्र, शीघ्राति-शीघ्र बुला रहा है। अब मेरा भी यहाँ क्या रह गया है ? अन्तिम अवलम्ब लक्ष्मण भी चले गये, नाथ, मैं भी क्यों यह दुःसह दुःख सहता रहूँ ? जाता हूँ, जाता हूँ, भगवन, पति के संग स्त्री ही न सती होगी, भ्राता का शव भी भ्राता के संग ही जलेगा।"

उत्तरार्ध भी उषःकाल से ही आरम्भ होता है। मथुरा से अक्रूर कृष्ण को लेने के लिए गोकुल आये हैं। कृष्ण के व्रज-गमन के कारण समस्त व्रजवासियों को महान दुःख है, परन्तु

कृष्ण को नहीं। कृष्ण तो उस परिस्थिति में भी अपनी मुरली बजा रहे हैं। बालक कृष्ण और राधा के संवाद से कृष्ण और राम की मूल भावनाओं का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

"राधा—तुम महानिर्मोही हो, महानिष्ठुर हो, कृष्ण, तुम्हारे हृदय नहीं पत्थर है।

"कृष्ण—यदि आसक्ति न रहने के कारण मनुष्य हृदयहीन कहा जा सकता है, तो तुम मुझे ऐसा कह सकती हो, पर मैं तो अपने को ऐसा नहीं मानता, राधा! क्या मैं हरेक को सुख पहुँचाने का सदा उद्योग नहीं करता? मेरी अवस्था का कोई बालक ऐसा करता है? परन्तु हाँ, इन सब कृत्यों के करने ही में मुझे सुख मिल जाता है; इनमें मेरी आसक्ति नहीं है, फल की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं जाती। फिर मैं देखता हूँ कि जीवन में कुछ ऐसी घटनायें होती हैं, जो निसर्ग से प्रेरित जान पड़ती हैं, मनुष्य यदि चाहे तो भी उन्हें नहीं रोक सकता, कभी कभी वह रोकने का प्रयत्न करता है और उल्टा दुःख पाता है, एवं वह कार्य भी नहीं रुकता। मेरा मथुरागमन भी मुझे ऐसा ही भासता है; अतः मैं उसके आड़े नहीं आना चाहता।

"राधा—तुम्हारी सारी बातें कभी मेरी समझ में नहीं आतीं, पर हाँ, कुछ कुछ समझ लेती हूँ। इतना मैं जानती हूँ कि तुम हम लोगों पर उतना प्रेम नहीं करते जितना हम तुम पर करते हैं।

"कृष्ण—यह नहीं है, राधा, तुम लोग किसी पर अधिक प्रेम करती हो, किसी पर कम और किसी पर सर्वथा नहीं, वरन् किसी-किसी पर शत्रुता भी रखती हो, मुझ में ऐसा नहीं है; यही अन्तर है मैं सभी पर प्रेम करता हूँ और एकसा।

"राधा—(सिर झुका, कुछ सोच और फिर सिर उठाकर) अब तो तुम पकड़ गये; जिन दुष्टों को तुमने मारा उनपर भी प्रेम करते थे ?

"कृष्ण—हाँ, उन पर भी।

"राधा—(आश्चर्य से) जिनको मारा उन पर प्रेम ! कैसी बात करते हो, कन्हैया !

"कृष्ण—हाँ, राधा, उन पर भी प्रेम, उन पर भी । वे इतने दुष्ट थे कि अपनी दुष्टता के कारण स्वयं दुःख पाते थे। उनका इस जन्म में सुधार असम्भव था, अतः मैंने उनका, उनके उस शरीर से उद्धार कर दिया।

"राधा—तो तुम्हारे लिए सभी एक से हैं, क्यों ? फिर न जानें हम ही लोग तुम पर क्यों प्राण दिये देते हैं।

"कृष्ण—तुम्हारी इस कृति में भी हानि नहीं है, राधा, पर ऐसी परिस्थिति में बिना एक बात के तुम्हें सच्चा सुख कभी नहीं मिलेगा।

"कृष्ण—(उत्कंठा से) वह क्या, सखा ?

"कृष्ण—तुम अपने को ही कृष्ण क्यों नहीं मान लेतीं ?

पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को मानने लगो तथा भेद-भाव से रहित हो उसी की सेवा में दत्तचित्त हो जाओ। सेवा में तो प्रयत्न की तो आवश्यकता ही न होगी क्योंकि भेदभाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य में समता का अनुभव होने लगेगा तब जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्तचित्त रहना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार अन्य की भलाई में भी दत्तचित्त रहना स्वभाव हो जायेगा। और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य ही अच्छा न लगेगा।

"राधा—(आश्चर्य से) क्या कहा? राधा अपने को कृष्ण मानने लगे और फिर सारे संसार को कृष्ण! तुम क्या अपने को राधा और सारे संसार को राधा मान सकते हो?

"कृष्ण—मैं तो अपने को कृष्ण और सारे संसार को कृष्ण मानता हूँ, पर हाँ, यदि मुझे अपने को राधा और सारे संसार को राधा मानने में आनन्द मिले तो मैं यह भी मान सकता हूँ। तुम कहती हो न कि तुम्हारे हृदय में मुझ पर अत्यधिक अनुराग है इसी से मैंने कहा कि तुम अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मान लो।

"राधा—(कुछ सोचकर) मुझसे तो ऐसा नहीं माना जाता।

"कृष्ण—जब तक नहीं माना जाता तब तक दुःख ही रहेगा।

"राधा—पर, कौन—कौन ऐसा मान सकता है?

"कृष्ण—बहुत कम लोग, इसीलिए संसार में अधिक दुःखी दिखते हैं।

"राधा—पर मैं मानूँ कैसे, सखा ? इसका भी उपाय बताओ; मैं कह भी दूँ कि मान लिया तो क्या होता है ?

"कृष्ण—हाँ, कहने से तो कुछ नहीं होता, उसका अनुभव करना चाहिए, यह अभ्यास से न होगा तो अनेक जन्म के अभ्यास से सही।

"राधा—यह तुम्हें अनुभव होता है।

"कृष्ण—हाँ, होता है।

"राधा—कब से ?

"कृष्ण—जब से मुझे सुधि है।"

गोविन्ददास जी ने नाटक के उत्तरार्ध के भी पाँच ही स्थल कृष्ण की भावनाओं के दिग्दर्शन के लिए चुने हैं (१) उनका मथुरा-गमन, (२) जरासिन्ध और कालयवन के मथुरा आक्रमण पर उनका युद्ध से पलायन, (३) प्रागज्योतिष पुर में भौमासुर के बध के पश्चात् उसके यहां रोकी हुई राजकुमारियों के ग्रहण करने का अवसर, (४) महाभारत में छल से निःशस्त्र कराकर भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि का बध और (५) कृष्ण का स्वर्गारोहण—

राम के जीवन में इसी प्रकार के अवसरों पर की गयी कृतियों के समय राम की भावनाओं के ठीक विपरीत कृष्ण की भावनाएँ हैं।

मथुरागमन के अवसर पर कृष्ण और बलराम अक्रूर के साथ रथ पर बैठे हुए जा रहे हैं। इस समय कृष्ण और बलराम का संवाद होता है—

"बलराम—(दुःखित स्वर से) कृष्ण, ब्रजवासियों का विरह देख मेरी तो छाती फटी जाती है। नन्द बाबा और यशोदा मैया कितनी दुःखी थीं। हाय! इस ब्रज की एक-एक बात आठों पहर और चौसठों घड़ी स्मरण आवेंगी।

"कृष्ण—(मुस्कराते हुए) पर, आर्य, इससे क्या लाभ होगा? मेरा तो मन है कि जो कुछ सामने आवे उसे करते जाइये और पीछे की बातें भूलते।"

जरासिंध और कालयवन के मथुरा आक्रमण के समय कृष्ण और उद्धव का बार्तालाप होता है—

"कृष्ण—मैं युद्ध नहीं करूँगा, भागूँगा।

"उद्धव—(आश्चर्य से, चौंककर) आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं?

"कृष्ण—नहीं, मैं नितान्त गंभीर होकर कह रहा हूँ।

"उद्धव—आप युद्ध छोड़कर भागेंगे, इसका क्या अर्थ?

"कृष्ण—युद्ध छोड़कर भागने का अर्थ युद्ध छोड़कर भागना ही हो सकता है; कोष में एक-एक शब्द का अर्थ देखने से भी इस वाक्य का और कोई अर्थ नहीं निकलेगा।... ... ...

"उद्धव (खीझकर) पर युद्ध में भागना अधर्म है, यदुनाथ।

"कृष्ण—क्योंकि अब तक लोग उसे अधर्म कहते हैं।

"उद्धव—हाँ किन्तु.....।

"कृष्ण—(बात काटकर) किन्तु-परन्तु कुछ नहीं। प्रचलित बातों के विरुद्ध अच्छी बात भी करना लोगों को अधर्म दिखता है। देखो, उद्धव, धर्म का काम लोक-रक्षा है। यदि जरासिंध देश जीतने के लिए युद्ध करने आता होता तो देश की रक्षा करने के निमित्त युद्ध करना अनिवार्य था। इसी प्रकार यदि किसी सिद्धान्त की रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक होता तो भी युद्ध करना ही पड़ता, क्योंकि स्थायी रूप से लोक-रक्षा सद् सिद्धान्तों से ही हो सकती है, परन्तु जरासिंध केवल मेरे व्यक्तिगत द्वेष के कारण बार-बार आक्रमण करता है। कालयवन को भी वही उकसाकर लाया है। जब तक वह मुझे एक बार नीचा न दिखा लेगा, तब तक यह रक्तपात बन्द न होगा। यदि एक मेरे नीचा देख लेने से इतने जन और धन की रक्षा होती है तो मेरा नीचा देखना ही धर्म है; अतः इस समय युद्ध करना धर्म नहीं, पर, देश के जन तथा धन की रक्षा के निमित्त युद्ध में भागना ही धर्म है।

"उद्धव—परन्तु, यदुनाथ, इससे लोग आपको कायर कहेंगे।

"कृष्ण—(मुस्करा कर) मुझे लोगों के कल्याण की चिन्ता है या इसकी कि मुझे वे क्या कहेंगे? मैं युद्ध में भागूँगा,

अवश्य भागूँगा।..... शूरसेन देश की रक्षा का, इस रक्तपात और मारकाट के निवारण का, अपार जन और धन के बचाने का और कोई उपाय नहीं है।"

प्रागज्योतिषपुर में भौमासुर को मारने के पश्चात् कृष्ण बन्धन से मुक्त राजकुमारियों से कहते हैं—

"कृष्ण—राजकुमारियो, मैंने तुम लोगों के भाषण सुन लिये हैं। मैं जानता हूँ कि आज का समाज तुम्हें उचित विधि से ग्रहण करने को प्रस्तुत न होगा। यदि तुमने प्राण ही दे दिये तो फिर भौमासुर और इतने प्राणियों के संहार से क्या लाभ हुआ? तुम्हारी इच्छा भी मैंने सुन ली है। सुन्दरियो, मेरी इच्छा एक विवाह करने की भी न थी, पर मैं देखता हूँ कि एक के स्थान पर न जाने मुझे कितने विवाह करने पड़ रहे हैं। जो कुछ हो, लोक हितार्थ, लोक सुखार्थ जो कुछ भी सम्मुख आयेगा, शक्ति के अनुसार किये बिना मन ही न मानेगा। मैं जानता हूँ कि तुम सब शुद्ध हो, समाज की टीका की मुझे चिन्ता नहीं है, तुम्हारी इच्छानुसार मैं तुम सबों को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ।.....

"एक—यदि चाहें तो हमारी शुद्धता की आप परीक्षा कर लें, करुणेश।

"कृष्ण—नहीं, सुन्दरियो, नहीं, मेरा अन्तःकरण कहता है कि तुम सब शुद्ध, नितान्त शुद्ध हो, मुझे परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।"

भारत युद्ध समाप्त हो रहा है। दुर्योधन और भीम का गदायुद्ध चला है। कृष्ण और अर्जुन तथा कृष्ण और बलराम का इस समय का सम्भाषण सुनिये—

"कृष्ण—दुर्योधन के संहार से आज इस महायुद्ध का अन्त और पाण्डवों की विजय हो जायगी।

"अर्जुन—इन सबके कारण तुम हो, कृष्ण।

"कृष्ण—(अर्जुन की ओर सिर घुमाकर) फिर वही, तुम कारण और मैं कारण; अरे, कोई कारण नहीं; सब निमित्रमात्र हैं। यदि इतने उद्योग के पश्चात् भी कौरव जीत जाते तो भी मेरे हृदय की वही अवस्था रहती जो अब है। (फिर सामने की ओर देखते हुए कुछ ठहर कर) पर, देखो, अर्जुन तुम्हारा अग्रज यह भीमसेन बड़ा मूर्ख है; अभी भी दुर्योधन से शास्त्रोक्त मल्लयुद्ध कर रहा है। प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण कौशल दिखा रहा है। इतना समझा दिया था कि दुर्योधन का उरु दण्ड बड़ा निर्बल है, एक ही गदा में काम होता था। (कुछ ठहरकर) दुर्योधन बलराम का शिष्य है, भीम इस प्रकार लड़ा तो हारकर ही रहेगा। (कुछ ठहरकर) अब हारने ही लगा तो देखो, उधर चकपका कर देख रहा है। फिर संकेत करता हूँ।

[कृष्ण पैर ऊँचाकर हाँथ जाँघ पर मारते हैं। बलराम का प्रवेश]

"बलराम—कृष्ण! कृष्ण!

[कृष्ण बलराम का शब्द सुन उस ओर देख आगे बढ़ते हैं और उनके चरण स्पर्श करते हैं। अर्जुन भी यही करते हैं।]

"कृष्ण—आप कब पधारे, आर्य।

"बलराम—अभी आ रहा हूँ। यह संकेत क्या हो रहा था? दुर्योधन की भी हत्या करानी है क्या?

"कृष्ण—(मुस्करा कर) आप तो तीर्थ-यात्रा में हैं न, तात? इन सब प्रपंचों से आपको क्या प्रयोजन है?

"बलराम—(क्रोध से) मुझसे एक सूत की हत्या हो गयी, इसका निवारण में तीर्थ-यात्रा करके करूँ और तुम यहाँ पूज्यपाद भीष्म पितामह, गुरुदेव द्रोण आदि को निःशस्त्र कराकर उनका संहार कराओ। दुर्योधन की भी हत्या कराने के लिए भीम को संकेत करो।

"कृष्ण—(मुस्कराकर) आर्य, आपने सूत की हत्या क्रोध के आवेश में आकर की थी, उसका आपके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ा। मैंने क्रोध या किसी प्रकार के आवेश में आकर कुछ नहीं किया। जो कुछ मैंने किया—धर्म, न्याय, सत्य की विजय के लिए कर्तव्य समझकर किया है और वह भी फलेच्छा से रहित हो, अतः मेरे हृदय पर किसी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तात। जिनकी आप हत्या हुई कहते हैं, उन पर मेरा उतना ही प्रेम था, जितना पाण्डवों पर है। पितामह गुरुदेव आदि का मुझपर भी अत्यधिक प्रेम था।"

यादवास्थल हो चुका है। बलराम ने जल-समाधि ले ली है। कृष्ण को व्याध का बाण लग चुका है और उनके भी

इहलोक त्याग का समय है। इतने पर भी वे अपनी मुरली ही बजा रहे हैं। उनका और उद्धव का इस समय का संवाद उनके चरित्र और उनके तथा राम के चरित्र में जो महान अन्तर है उसे समझने के लिए मननीय है—

"उद्धव—(निकट जाकर जोर से रो पड़ते हैं) भगवन ! भगवन् !

"कृष्ण—(मुरली हटाते हुए मुस्कराकर) कौन, उद्धव ? क्यों, रोते क्यों हो ? यादवों के नष्ट होने का रुदन है अथवा मेरे वियोग का ? रोने का तो कोई कारण नहीं है।

"उद्धव—महाराज, क्या कहा ? कुछ नहीं रह गया, सब गया भगवन, सब गया। यादव नष्ट हो गये, वीरवर बलराम ने आपकी यह दशा देख समुद्र में समाधि ले ली और आप जाने को प्रस्तुत हैं, नाथ। यह मंदभाग उद्धव ही रह गया।

"कृष्ण—(मुस्कराते हुए) जिसका कार्य समाप्त हो जाता है, उसे जाना ही पड़ता है, जिसका कार्य शेष रहता है, उसे रहना। मैंने तुम से कहा ही था कि मदोन्मत्त यादवों का मैं कल्याण नहीं देखता, यह भी कहा था कि मेरा भी कोई कार्य शेष नहीं दिखता, आर्य का भी कदाचित कोई कार्य शेष न था, पर अभी तुम्हारी आवश्यकता जान पड़ती है ..... यदि इतने दीर्घ काल तक मेरे संग रहने पर भी आज तुम्हें यह मोह उत्पन्न हो रहा है, तो मेरे संग रहने से तुम्हें लाभ

ही क्या हुआ? जब तुम्हारा कर्तव्य समाप्त हो चुकेगा, तब तुम चाहोगे, तो भी इस भूतल पर इस स्वरूप में न रह सकोगे। जो सामने कर्तव्य आये, उसे निष्काम हो करते जाओ। (कुछ ठहरकर) अच्छा, उद्धव, अब जाता हूँ। देखते हो, सामने का विशाल आकाश-मण्डल और विशाल समुद्र; इसी आकाश में मैं भी व्याप्त हो जाऊँगा, इसी सागर की तरंगों में मैं भी विचरण करूँगा। देखते हो, उठते, हुए बादल; इन्हीं बादलों के संग मैं भी क्षितिज पर उठूँगा। देखते हो, बिजली, इसीके संग मैं भी चमकूँगा। देखते हो, सूर्य की किरणें, इनके संग मैं भी आलोकित होऊँगा। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में झलका करूँगा और तारों की दमक में दमका करूँगा। पर्वतों, नदियों, झरनों, वृक्षों, लताओं में व्याप्त हो जाऊँगा और इन सब के परे भी जो कुछ इस सारे विश्व में दर्शनीय तथा अदर्शनीय, वर्णनीय तथा अवर्णनीय है, मैं समस्त में प्रविष्ट हो जाऊँगा। सृष्टि के परे भी यदि कुछ होगा तो वहाँ भी मैं होऊँगा। मुझे जाने में कोई क्लेश नहीं हो रहा है, कोई नहीं। इस बाण से शरीर को जो कष्ट मिल रहा है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, कोई नहीं। बड़े उल्लास, बड़े आनंद से मैं जा रहा हूँ। जाता हूँ, उद्धव, जाता हूँ, ऐसे स्थान को जाता हूँ, जहाँ धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, प्रेम-द्वेष, पाप-पुण्य ऐसा द्वंद्व नहीं है; जहाँ सभी निर्द्वंद्व है, एक है। इस मुरली के स्वरों के साथ ही जाता हूँ।"

[कृष्ण नेत्र बंदकर मुरली बजाते हैं। कुछ देर में मुरली बंद हो जाती है।]

'कर्तव्य' नाटक में राम और कृष्ण के अतिरिक्त राधा का चरित्र एक सर्वथा नवीन ढंग से चित्रित किया गया है। कृष्ण ने गोकुल से जाते समय राधा से कहा था—

"तुम अपने को ही कृष्ण क्यों नहीं मान लेतीं ? पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को मानने लगो, तथा भेद भाव से रहित हो उसी की सेवा में दत्तचित्त हो जाओ। सेवा में तो प्रयत्न की आवश्यकता ही न होगी, क्योंकि भेद भाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य में समता का अनुभव होने लगेगा, तब जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्तचित्त रहना स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार अन्य की भलाई में भी दित्तचित्त रहना स्वभाव हो जायगा और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य ही अच्छा न लगेगा।"

कृष्ण के वियोग में राधा ने अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मानने का प्रयत्न किया। धीरे धीरे उन्हें यह अनुभव भी होने लगा। गोकुल से जाने के अनेक वर्षों पश्चात् कृष्ण व्रज-वासियों से कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण पर मिले। राधा उस समय अन्धी हो गयीं थीं, परन्तु उनके आन्तरिक और सच्चे चक्षु खुल गये थे। जब कृष्ण उनसे मिलने गये तब वे कृष्ण के शब्द को पहचान उनसे मिलने झपटीं और उनसे लिपट गयीं। उस समय का कृष्ण और राधा का संवाद सुनिए—

"कृष्ण—नेत्र चले गये, राधा !

"राधा—हाँ, चर्म चक्षु चले गये, सखा, पर हृदय चक्षु खुल गये हैं। लगभग पैंतीस वर्षों में यह अनुभव कर सकी, जिसे तुमने व्रज छोड़ने के समय कहा था—मैं ही कृष्ण हूँ, सारा विश्व कृष्ण है। सुख, सर्वत्र सुख है। तुमने मुझे ऐसा सुखी बना दिया, सुख का ऐसा पूर हृदय पर चढ़ा दिया कि मैं सारे संसार को सुख बाँट सकती हूँ।

"कृष्ण—अनेक जन्म बीतने पर भी जो अनुभव नहीं होता, उसे तुम इतने शीघ्र कर सकीं।

"राधा—क्यों, सखा अभी तुम ग्यारह वर्ष के ही हो ?

"कृष्ण—नहीं सखि, मेरी अवस्था भी उतनी ही है जितनी तुम्हारी।

"राधा—पर, मेरे हृदय चक्षुओं से तो तुम उतने ही बड़े दिखते हो। वैसा ही सुन्दर बाल-स्वरूप है, सखा वैसा ही, स्पर्श में भी तुम मुझे वैसे ही सुखद लगते हो, वैसे ही; वैसा ही प्यारा तुम्हारा स्वर है, वैसा ही; प्यारे सखा, बजाओ! मुरली बजाओ, एकबार फिर सुनूँगी। मेरे प्यारे कृष्ण ! मेरे प्राण-वल्लभ कृष्ण ! मेरे सर्वस्व कृष्ण !"

ऐतिहासिक नाटक

हर्ष

हर्ष ऐतिहासिक नाटक है। सम्राट हर्षवर्धन स्थाण्वीश्वर के राजा और भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट थे। उनकी बहन राज्यश्री और उनका संयुक्त राज्य था। हर्षवर्धन के समय के भारत का यह नाटक सजीव चित्र है। उस समय के राजनैतिक, धार्मिक, और सामाजिक क्षेत्र का इस नाटक में ऐसा वर्णन हुआ है कि नाटक को पढ़ते पढ़ते उस समय का पूरा चित्र ही नेत्रों के सम्मुख खिंच जाता है। राजनैतिक क्षेत्र में उस समय सम्राटों और साम्राज्य को ही महत्व था। हर्ष के वर्धन वंश का उत्थान हो रहा था और गुप्त वंश का पतन हो चुका था। हर्ष के प्रतिद्वन्दी गुप्त वंशी शशांक नरेन्द्रगुप्त थे। गुप्तवंश के ही एक वंशज माधवगुप्त हर्ष के अभिन्न मित्र थे, परन्तु माधव गुप्त का पुत्र आदित्य सेन अपने पिता और हर्ष का कट्टर विरोधी

था। उस समय के राजनैतिक वायुमण्डल और आपसी संघर्ष में हर्ष, शशांक, माधव और आदित्य सेन की भावनाएँ नाटक में अत्यधिक सजीवता से अंकित हुई हैं। धार्मिक क्षेत्र में उस समय आर्य और बौद्ध धर्म का संघर्ष था। वह भी नाटक में अनेक स्थलों पर सफलता पूर्वक दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक क्षेत्र में राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों का प्रभाव तो था ही, परन्तु राज्यश्री को सम्राज्ञी बनाकर हर्ष ने एक नया ज्वारभाटा उठा दिया था। यह भी नाटक में खूबी से देखने को मिलता है।चीनी यात्री यानचांग हर्ष के समय ही भारतयात्रा को आया था। यानचांग भी नाटक के अनेक दृश्यों में उपस्थित किया गया है।

नाटक का आरम्भ होता है हर्षवर्धन के अग्रज राज्यवर्धन के वध से। हर्ष बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्रभावित रहने के कारण राज्य-ग्रहण नहीं करना चाहते थे। स्थाण्वीश्वर की राज्य नौका राजा से रहित होने के कारण डगमगा रही थी। राज सभा की बैठक में महामंत्री अवन्ति उस समय की राजनैतिक परिस्थिति का दिग्दर्शन निम्नलिखित शब्दों में कराते हैं—

"अवन्ति—देखिये महाबलाधिकृत, शताब्दियों से इस देश में प्रजातन्त्र सत्ता नहीं है। हमारी यह राज-सभा तथा इस सभा के सदृश जितनी भी राज सभाएँ इस देश में हैं, वे सब एक प्रकार से राजाओं को मंत्रणामात्र देने का अधिकार रखती हैं। राजा ही उन्हें नियुक्त और वे ही उनमें परिवर्तन करते हैं।

सम्राटों और राजाओं के हाथों में सारी सत्ता के केन्द्रीय भूत होने के कारण प्रजा का राज-कार्यों में बहुत थोड़ा अनुराग रह गया है। वह केवल वीर-पूजक हो गई है और सच्चे वीर ही उसका उपयोग करने की क्षमता रखते हैं। यही कारण है कि किसी वंश में वीर के न रहते ही सत्ता उस वंश के हाथ से दूसरे वंश के हाथ में तत्काल चली जाती है और जो भी राजा होता है प्रजा आँख मूँदकर उसका अनुसरण करती है।"

हर्ष के राज्य ग्रहण के पूर्व उनका और माधव गुप्त का सम्भाषण मनन करने से नाटक के यथार्थ उद्देश्य का पता लग जाता है।

"माधव गुप्त—देखिये, राजपुत्र, धर्म और कर्तव्य-पथ से चलकर ही जीवन व्यतीत करना, आपने अपना लक्ष बनाया है। अब तक आपके राज्य ग्रहण न करने के निश्चय को मैं सदा और भी दृढ़ करने का उद्योग इसलिए करता रहा कि आपके अग्रज थे। मैं नहीं चाहता था कि इन दिनों जिस प्रकार अन्य अनेक राजाओं में राज्य के लिए सहोदर भ्राताओं के बीच कलह हो जाता है वैसा स्थाण्वीश्वर में भी हो। आपके अग्रज सिंहासनासीन रह, सारे भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का यत्न करते और आप उनके इस महान कार्य में सहायता कर उनकी छत्रछाया में प्रजा की सेवा में दत्तचित्त रहते; परन्तु, आज तो राज्य की नींव ही हिल रही है। महाराजाधिराज, राज्यवर्धन के हत्यारे, चाहे वे मेरे आत्मीय ही क्यों न हों, मैं तो

उन्हें महाराजाधिराज का षड़यन्त्र से वध करने के कारण हत्यारा ही मानता हूँ, चक्रवर्ती सम्राट् होने की आकांक्षा कर रहे हैं और राजपुत्री राज्यश्री भी बन्धन में पड़ी हुई हैं। यदि ऐसे आततायियों को दंड न मिला तो फिर संसार का कार्य नियमित रूप से किस प्रकार चल सकेगा। वर्तमान परिस्थिति में, आपका वर्तमान जीवन कर्तव्य-पथ पर न चलकर इसके विपरीत पथ पर ही चल रहा है। मैं आपके विरागपूर्ण जीवन को सदा श्रेष्ठ मानता रहा, क्योंकि मेरा निश्चय है कि मनुष्य को विषय-वासना के उपभोगों से सच्चा और स्थायी सुख मिलना असम्भव है। मैं आपकी स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति को सदैव उत्तेजित करता रहा, कारण कि मेरा विश्वास है कि इस संसार में परोपकार के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नहीं सकता। आज भी मैं आपको अपने दो अन्तिम विचारों में कोई परिवर्तन के लिए नहीं कह रहा हूँ, केवल अपने प्रथम निर्णय को परिवर्तित करने का निवेदन करता हूँ।

"शिलादित्य—परन्तु, माधव, प्रथम निर्णय के परिवर्तित होते ही अन्तिम निर्णय तो आपसे आप बदल जायेंगे।

"माधवगुप्त—यह आवश्यक नहीं है। अनेक सम्राट तथा राजा राज्य करते हुए भी विरागी एवं परोपकार में दत्तचित्त रहे हैं। उन्होंने राज्य को सदा अपने पास प्रजा की धरोहर और अपने को प्रजा का सेवक माना है।

"शिलादित्य—ऐसे दृष्टान्त बहुत कम हैं। अधिकांश नरेश या तो विषयों में अनुरक्त रहे हैं या अपनी शक्ति और साम्राज्य बढ़ाने के लिये रक्तपात में दत्तचित्त।

"माधवगुप्त – नहीं, आर्य, भारतीय सम्राटों तथा राजाओं का यह आदर्श कभी भी नहीं रहा। विषय-लोलुप सम्राट् एवं राजाओं का चाहे अन्य देशों में उत्कर्ष हुआ हो, मिश्र के फरोह और रोमक के सीजर आदि विषय-लोलुप रहते हुए भी चाहे उन्नत हो सके हों, परन्तु भारत के इतिहास में आपको एक भी ऐसे सम्राट् या राजा का उदाहरण न मिलेगा, जिसका विषय-लोलुप रहते हुए उत्थान हुआ हो। अत्यन्त प्राचीन काल के भारतीय सम्राट रघु, राम, युधिष्ठिर आदि अथवा आधुनिक काल के चन्द्रगुप्त, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त इत्यादि किसी के जीवन की ओर आप देखें, इनमें से एक भी विषय-लोलुप न था। हां, रक्तपात इस देश के भी अनेक सम्राटों द्वारा हुआ, पर वह अधिकतर या तो आततताइयों को दण्ड देने के लिए अथवा समस्त देश में सभ्यता और संस्कृति के एकीकरण रखने के उद्देश से; किसी के राज्य का अपहरण करने के निमित्त नहीं। आततताइयों को दण्ड देकर उनका राज्य उन्हीं के निकटवर्ती सम्बन्धियों को दे दिया जाता था। किष्किन्धा और लंका में राम ने यही किया था। इसी प्रकार जो चक्रवर्ती होकर समस्त देश में एक सभ्यता और संस्कृति स्थिति रखने के लिए अश्वमेध या राजसूय-यज्ञ करना चाहते थे वे भी युद्ध करनेवालों

के पुत्रादिकों को ही उनके राज्य सौंप देते थे। पाण्डवों ने मगध के जरासिन्ध से युद्ध कर उसके पुत्र सहदेव को ही तो मगध का सिंहासन दिया था। यज्ञों के बन्द होने के पश्चात् भी चक्रवर्ती सम्राटों की यही पद्धति रही। उन्होंने किसी के राज्य का अपहरण न कर सब को माण्डलीक ही बनाया।

"शिलादित्य—फिर भी तुम यह नहीं कह सकते कि सभी सम्राट् और राजा विषयोपभोगों और अपनी सत्ता वृद्धि के लिए रक्तपात के दोषों से मुक्त रहे हैं। अतः क्या यह सबसे अच्छी बात न होगी कि इस समय पुनः प्राचीन भारत के लिच्छवि, वज्जिक, और मद्रक आदि राज्यों के समान प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय?

"माधवगुप्त—प्रजा को अब इस प्रणाली का अभ्यास नहीं रह गया है और इस समय, जब कि चारों ओर शत्रु प्रबल हो रहे हैं, तब, इस प्रकार के कार्य का समय नहीं है। ऐसे अवसरों पर तो एक ही व्यक्ति के अधिकार में सत्ता का रहना आवश्यक है, फिर प्रजातन्त्र शासन प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं।

"शिलादित्य—यह कैसे?

"माधवगुप्त—यदि यह प्रणाली सवश्रेष्ठ होती तो इसके विकास के अनन्तर फिर सत्ता एक मनुष्य के अधिकार में क्यों जाती? भारत में लिच्छवि, वज्जिक, मद्रक आदि राज्यों में प्रजातन्त्र के पश्चात् भी राजाओं के हाथ में सत्ता गई। यही

बात हमें यवनक और रोमक आदि देशों के इतिहास से ज्ञात होती है। बात यह है, राजपुत्र, कि संसार में हरएक वस्तु पूर्ण न होने वरन् परिवर्तनशील होने के कारण इन शासन-प्रणालियों में भी परिवर्तन होता रहता है। एक बात सदा निर्दोष रह ही नहीं सकती। बहुत काल तक एक मनुष्य के अथवा अनेक मनुष्यों के हाथ में सत्ता रहते रहते दोनों ही प्रकार की पद्धतियों में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जनसमुदाय जब एक मनुष्य के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है, तब प्रजातन्त्र की स्थापना, और जब अनेक मनुष्यों के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब एक मनुष्य के हाथ में सत्ता देने का प्रयत्न करता है। (कुछ ठहरकर) मुझे विश्वास है, राजपुत्र, कि यदि आपने राज-सिंहासन ग्रहण किया तो भी आप कभी विषय-वासनाओं के आखेट न होंगे, न कभी आपके हाथों व्यर्थ का रक्तपात ही होगा, वरन सदा सच्चे धर्म और कर्तव्य-पथ पर चलकर ही आप अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे। आप तो इस काल के विदेह हो सकते हैं, राजपुत्र।"

हर्ष राज्य स्वीकृत करते समय जो दो निश्चय करते हैं, उन्हें भी सुनिए।

"शिलादित्य—(कुछ सोचते हुए) महामात्य और महाबलाधिकृत, राज्य ग्रहण करना तो मैंने स्वीकृत कर लिया, पर, फिर भी मैं दो बातें न करूंगा।

"अवन्ति—वे क्या राजपुत्र ?

"सिंहनाद—उन्हें और बता दीजिये।

"शिलादित्य—पहली बात विवाह और दूसरी व्यर्थ का युद्ध।

"अवन्ति—(कुछ विचार करते हुए) दूसरी बात तो ठीक है। व्यर्थ का रक्तपात हो, यह कोई नहीं चाहता, परन्तु विवाह आप क्यों न करेंगे ?

"सिंहनाद—(आश्चर्य से) हां, विवाह करने में क्या हानि है ?

"शिलादित्य—मैं अपने को राज्य का संरक्षक मात्र मानना चाहता हूँ और राज्य को अपने पास प्रजा की धरोहर। मैं अपने और अपने वंश को राज्य का स्वामी और राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं मानना चाहता।

"सिंहनाद—विवाह करने के पश्चात् भी आप यही मान सकते हैं।

"शिलादित्य—नहीं, राज्य-सिंहासन पर बैठने के पश्चात् एक तो यों ही इस भावना की रक्षा कठिनाई से हो सकती है, फिर पुत्र-पौत्रादि हों तब तो इस भावना का चित्त में ठहरना और भी कठिन हो जाता है। पुत्र-पौत्रादि यदि अयोग्य हों तो भी राज्य-सत्ता उन्हीं के अधिकार में रहे, इस लोभ की उत्पत्ति होती है।

"अवन्ति—परन्तु, श्रीमान्, यदि आपने विवाह न किया तो आपके पश्चात् राज्य का अधिकारी कौन होगा ?

"शिलादित्य—इसका निर्णय उस समय हो जायगा।

"सिंहनाद—किन्तु श्रीमान्, योग्य सन्तान के होने पर तो एक प्रकार से आप अपने पश्चात् के लिये भी सुशासन की व्यवस्था कर जायंगे।

"शिलादित्य—और यदि अयोग्य सन्तान हुई तो, महाबलाधिकृत, अयोग्य सन्तान होने पर भी राजसत्ता उसी के अधिकार में रहे, इस आसक्ति की उत्पत्ति हो जायगी। देखिये, महामात्य और महाबलाधिकृत, राज्यसत्ता सदैव एक ही वंश के अधिकार में, उस वंश में सन्तान के रहते हुए भी, नहीं रही है। किसी वंश में, अयोग्य के उत्पन्न होते ही, वह उस वंश के अधिकार के बाहर चली गई है। फिर मैं ही अपने हृदय में असक्ति की उत्पत्ति कर, जो थोड़ी-बहुत प्रजा की सेवा करना चाहता हूँ, उस भावना के नाश का अयोजन क्यों करलूं? मैं तो प्राचीन भारत की प्रजातन्त्र-राज्य-प्रणाली का पक्षपाती हूँ, परन्तु यदि यह वर्तमान परिस्थिति में सम्भव नहीं है तो मैं सिंहासनासीन होकर राज्य-संरक्षक के रूप में प्रजा-सेवा के लिए तैयार हूँ, पर, विवाह कर, मैं अपने हृदय में राज्य के लिए आसक्ति की उत्पति नहीं करना चाहता। (खड़े होते हुए) मैं सिंहासन ग्रहण करूँगा, परन्तु विवाह नहीं, कदापि कहीं।"

राज्य ग्रहण के पश्चात् स्थाण्वीश्वर को कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य बनाने और राज्यश्री को भारत की सम्राज्ञी बनाने में हर्ष के उद्देश्य देखिये।

"हर्ष—में किसी बात पर निरर्थक हठ नहीं करना चाहता। या तो तर्क कर कोई मुझे यह सिद्ध करदे कि मेरा अमुक मत ठीक नहीं है, या वह मेरा मत मान ले। अमुक बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है, इसलिये वह आज, और भविष्य में भी नहीं हो सकती, यह मैं नहीं मानता। यदि कोई बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है और वह उचित है तो अवश्य होनी चाहिए। अब तक स्त्रियाँ पुरुषों की अनुगामिनी रही हैं। पुरुषों का स्थान समाज में ऊँचा और स्त्रियों का निम्न माना गया है। भगवान बुद्ध ने स्त्रियों को पुरुषों की अनुगामिनी न मानकर, संगिनी मान, उन्हें धार्मिक कार्यों में पुरुषों के समान ही अधिकार दे दिये हैं। सद्धर्म्म में यदि पुरुष भिक्षु हो सकते हैं तो स्त्रियाँ भी भिक्षुणी। मैं राज काज में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने की परिपाटी चलाना चाहता हूँ। यदि पुरुष सिंहासनासीन हो सकते हैं, तो स्त्रियाँ भी, विधवाएँ भी।..... देखो, राज्यश्री, मेरी भी इच्छा राज्य ग्रहण करने की न थी। मैं आर्य-धर्म का अनुसरण कर, सन्यासी हो, बन में जाकर केवल अपने कल्याण का चिन्तन नहीं करना चाहता था, क्योंकि वह तो स्वार्थ हो जाता। मैं भी वास्तव में भिक्षु होकर मठ में निवास कर संसार का कल्याण करना चाहता था। संसार के कल्याण में दत्तचित्त रहने पर अपना कल्याण तो आपसे आप हो जाता है उसके लिए चिन्तन करने के स्वार्थ में भी पड़ने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु, मैंने वह भी न कर उसी

कार्य को राज्य ग्रहण करके करने का निश्चय किया है। तुम भी तो भिक्षुणी होकर संसार के कल्याण में ही दत्तचित्त होना चाहती हो न ?

"राज्यश्री—अवश्य।

"हर्ष—वह तुम राज ग्रहण करने पर यदि उसमें ममत्व न रखोगी तो भिक्षुणी होने की अपेक्षा कहीं अधिक कर सकोगी। अन्त में यही सोचकर मैंने भी राज्य ग्रहण कर लिया और इतने ही दिनों के अनुभव से मैं देखता हूँ कि मैंने राज्य ग्रहण कर कोई भूल नहीं की है ..... फिर इस विषय में मैंने एक और निश्चय किया है।

"हर्ष—मैं स्वयं तुम्हारे संग कान्यकुब्ज में रहूँगा।

"राज्यश्री—और स्थाण्वीश्वर का राज्य ?

"हर्ष—वह कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य होगा।

"राज्यश्री—(चौंक कर) क्या कहते हो, क्या कहते हो, शिलादित्य ! यह त्याग ! यह अपूर्व त्याग !

"हर्ष—इसमें इतना ही तो त्याग है न, कि मैं सम्राट न हुआ और तुम सम्राज्ञी हुई।

"राज्यश्री—यह क्या छोटा त्याग है ? एक-एक कौड़ी के लिए सहोदर भ्राता एक दूसरे का सिर काटने को उद्यत रहते हैं और तुम इतने बड़े साम्राज्य को ठोकर मार रहे हो।

"हर्ष—राज्य का इस दृष्टि से मेरे सामने कभी महत्व ही नहीं रहा। मैंने उसे राजा की धरोहर मात्र माना है। (कुछ ठहर

कर) तुम्हारे सम्राज्ञी और मेरे माण्डलीक होने में एक और बड़ा भारी उद्देश है।

"राज्यश्री—वह क्या ?

"हर्ष—तुम्हें स्मरण होगा कि मैंने तुमसे कहा था कि भारतवर्ष का कल्याण भारत को एक साम्राज्य में परिणित करने से ही हो सकता है।

"राज्यश्री—हाँ, कहा था।

"हर्ष—और तुम यह भी जानती हो कि मैं रक्तपात के विरुद्ध हूँ, क्योंकि एक तो सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्यवर्ग के कृत्यों में रक्तपात को मेरी दृष्टि से कोई स्थान ही नहीं है, फिर रक्तपात द्वारा जिस साम्राज्य की स्थापना होती है वह कभी चिरस्थायी नहीं रह सकता।

"राज्यश्री—तुम्हारे इन मतों को मैं भली भाँति जानती हूँ और तुम्हारे इन मतों से सहमत भी हूँ।

"हर्ष—ऐसी परिस्थिति मे, यदि मैं सारे देश में एक साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट कर स्वेच्छा पूर्वक तुम्हारा माण्डलीक हो गया तो अन्य राज्यों के लिए एक उदाहरण हो जायगा और मैं अन्य राज्यों को समझा-बुझाकर बिना रक्तपात के ही साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करूँगा।"

राज्यश्री को राज्य करते हुए अट्ठाइस वर्ष बीत गये।

साम्राज्य की वृद्धि और प्रजा को सुख होने पर भी राज्यश्री को सन्तोष नहीं है। इसके कारण हैं—

"राज्यश्री—यह सारा कार्य उस पल्लवित और पुष्पित वृक्ष के सदृश है, जिसकी जड़ पृथ्वी के भीतर गहरी न जाकर किसी चट्टान पर हो। हाल ही में मौर्य और गुप्त-साम्राज्य में भी यह सब हुआ था। वह कितने दिनों तक टिका? शिलादित्य की सम्मति के अनुसार मैंने सिंहासन ग्रहण करने के दिन घोषणा की थी कि यह राज्य समस्त भारतवर्ष में एक धर्म, एक भाषा और एक से सामाजिक संगठन पर सारे देश में एक राष्ट्र की स्थापना का उद्योग करेगा, जिसमें इस देश का साम्राज्य चिरस्थायी रह सके। यद्यपि सारा आर्यावर्त अब एक साम्राज्य के अन्तर्गत है, परन्तु एक राष्ट्र का निर्माण मुझे अभी भी इतनी ही दूरी पर दिखता है जितना आज के अट्ठाइस वर्ष पूर्व था।

"अलका—(कुछ सोचते हुए) यह तो सत्य जान पड़ता है, महाराज्ञी। परन्तु, इसका क्या कारण है?

"राज्यश्री—मुख्य कारण एक ही है।

"अलका—वह क्या?

"राज्यश्री—शिलादित्य और मुझे जो आशा थी कि साम्राज्य में बराबरी के अधिकार देने से समस्त देश के नरपतिगण उसमें स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने के लिए आगे बढ़ेंगे, वह आशा पूर्ण न हुई। अतः शिलादित्य के पहले छः वर्ष तथा उसके पश्चात

कर) तुम्हारे सम्राज्ञी और मेरे माण्डलीक होने में एक और बड़ा भारी उद्देश है।

"राज्यश्री—वह क्या ?

"हर्ष—तुम्हें स्मरण होगा कि मैंने तुमसे कहा था कि भारतवर्ष का कल्याण भारत को एक साम्राज्य में परिणित करने से ही हो सकता है।

"राज्यश्री—हाँ, कहा था।

"हर्ष—और तुम यह भी जानती हो कि मैं रक्तपात के विरुद्ध हूँ, क्योंकि एक तो सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्यवर्ग के कृत्यों में रक्तपात को मेरी दृष्टि से कोई स्थान ही नहीं है, फिर रक्तपात द्वारा जिस साम्राज्य की स्थापना होती है वह कभी चिरस्थायी नहीं रह सकता।

"राज्यश्री—तुम्हारे इन मतों को मैं भली भाँति जानती हूँ और तुम्हारे इन मतों से सहमत भी हूँ।

"हर्ष—ऐसी परिस्थिति मे, यदि मैं सारे देश में एक साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट कर स्वेच्छा पूर्वक तुम्हारा माण्डलीक हो गया तो अन्य राज्यों के लिए एक उदाहरण हो जायगा और मैं अन्य राज्यों को समझा-बुझाकर बिना रक्तपात के ही साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करूँगा।"

राज्यश्री को राज्य करते हुए अट्ठाइस वर्ष बीत गये।

साम्राज्य की वृद्धि और प्रजा को सुख होने पर भी राज्यश्री को सन्तोष नहीं है। इसके कारण हैं—

"राज्यश्री—यह सारा कार्य उस पल्लवित और पुष्पित वृक्ष के सदृश है, जिसकी जड़ पृथ्वी के भीतर गहरी न जाकर किसी चट्टान पर हो। हाल ही में मौर्य और गुप्त-साम्राज्य में भी यह सब हुआ था। वह कितने दिनों तक टिका? शिलादित्य की सम्मति के अनुसार मैंने सिंहासन ग्रहण करने के दिन घोषणा की थी कि यह राज्य समस्त भारतवर्ष में एक धर्म, एक भाषा और एक से सामाजिक संगठन पर सारे देश में एक राष्ट्र की स्थापना का उद्योग करेगा, जिसमें इस देश का साम्राज्य चिरस्थायी रह सके। यद्यपि सारा आर्यावर्त अब एक साम्राज्य के अन्तर्गत है, परन्तु एक राष्ट्र का निर्माण मुझे अभी भी इतनी ही दूरी पर दिखता है जितना आज के अट्ठाइस वर्ष पूर्व था।

"अलका—(कुछ सोचते हुए) यह तो सत्य जान पड़ता है, महाराज्ञी। परन्तु, इसका क्या कारण है?

"राज्यश्री—मुख्य कारण एक ही है।

"अलका—वह क्या?

"राज्यश्री—शिलादित्य और मुझे जो आशा थी कि साम्राज्य में बराबरी के अधिकार देने से समस्त देश के नरपतिगण उसमें स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने के लिए आगे बढ़ेंगे, वह आशा पूर्ण न हुई। अतः शिलादित्य के पहले छः वर्ष तथा उसके पश्चात

का भी बहुत-सा समय युद्ध तथा विप्लवों की शान्ति एवं अन्य राज्य-काज के पचड़ों में ही बीता। फिर जो नरपति साम्राज्य के अन्तर्गत आये हैं उनकी दृष्टि भी इस ओर न होकर अपना-अपना बल बढ़ाने की ओर ही है।

"अलका—(कुछ ठहरते और विचारते हुए) तो जो व्यक्तिगत-स्वार्थ हर एक महान् कार्य के मार्ग में बाधक होता है वही आपके और महाराजाधिराज के शुभ संकल्पों में भी बाधक हो रहा है।

"राज्यश्री—हाँ, अलका। वही व्यक्तिगत स्वार्थ, अनेक बार आज का-सा विचार मेरे मन में उठता था, प्रत्येक युग के अन्त में, जब मैं युग भर के कार्यों का सिंहावलोकन करती थी, तब यह विचार और भी प्रबल हो जाता था, परन्तु अभी तक मुझे युद्ध समाप्त होने की आशा थी। युद्धों की समाप्ति होते ही हम दोनों इसी एक कार्य में लग जायंगे, इसका भी विश्वास था। अभी वल्लभी की विजय के पश्चात् यह विश्वास और दृढ़ हो गया था, परन्तु आज, जब से दक्षिण भारत पर आक्रमण करने का निर्णय हुआ है, तब से तो मैं बहुत ही अशान्त और निराश हो गई हूँ।"

इसी सम्बन्ध में जब राज्यश्री और हर्ष का संवाद होता है तब हर्ष की भावनाओं में जो परिवर्तन हुआ है उसे उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किया जाता है—

"हर्ष—तुम जानती हो कि दक्षिण पर आक्रमण करने का विचार मैंने बहुत दिनों तक स्थगित रखा, परन्तु पुलकेशिन का मालव, गुर्जर और कलिंग पर आक्रमण तो दक्षिण के इस आक्रमण को अनिवार्य कर देता है। यदि हम दक्षिण पर आक्रमण न करेंगे तो कदाचित् उनका आक्रमण हम पर हो जाय। इसलिए एकाएक मैंने यह निर्णय किया है।"

दक्षिण में हर्ष की पराजय हुई। जब फिर से दक्षिण पर आक्रमण करने की तैयारी आरंभ हुई उस समय हर्ष, राज्यश्री, यानचांग और राज्य के महामन्त्री तथा महासेनापति का जो वादविवाद हुआ उससे हर्ष के भावी कार्यक्रम के उद्देश्यों का पता लगता है—

"यानचांग—भारतीय सम्राट् अशोक ने तो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधने का उद्योग किया था। और यह, संसार को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किये बिना ही। आप समझते हैं कि यदि आप अपने देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत ले भी आये और यदि आपने अपने देश में एक राष्ट्र की स्थापना कर भी ली तो आप सब भयों से मुक्त हो जायँगे ?

"भण्डि—फिर हमें कौन सा भय रह जायगा ?

"यानचांग—विदेशी आक्रमणों का।

"भण्डि—उसके लिए हम यथेष्टरूप से बलवान रहेंगे।

"यानचांग—परन्तु जैसे एक प्रकार की वस्तु से उसी प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती है, वैसे युद्ध से सदा युद्ध की ही

उत्पत्ति होती है। ज्योंही एक विदेशी आक्रमण में आपकी शक्ति का व्यय हुआ और दूसरों ने देखा कि आप निर्बल हैं. त्योंही आप पर दूसरा आक्रमण होगा। जब तक यह युद्ध होगा तब तक आप ही नहीं सारे संसार की यही अवस्था रहेगी। इसलिए सम्राट् अशोक के सदृश, बिना युद्ध के ही, सारे संसार को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न होना चाहिए।

"भण्डि—परन्तु, सम्राट् अशोक का तो वह प्रयत्न असफल हो गया।

"यानचांग—एक देश, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो अकेला इतना बड़ा कार्य नहीं कर सकता। इसके लिए अनेक देशों में एक साथ यह प्रयत्न चलना चाहिए और वह भी सतत। सम्राट् अशोक के पश्चात् वह कार्य इस प्रकार से अब तक संसार में कहीं किया ही नहीं गया।

"माधव गुप्त—(जो अब तक चुप होकर सारे विवाद को ध्यान-पूर्वक सुन रहा था) तो आप समझते हैं कि सारे संसार पर एक धर्म, एक भाषा और एक सामाजिक संगठन की स्थापना हो सकती है ?

"यानचांग—यह चाहे न हो, परन्तु उस सहिष्णुता की स्थापना अवश्य हो सकती है, जिससे एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठन वाले दूसरे धर्म, दूसरी भाषा और दूसरे प्रकार के सामाजिक संगठन वालों को अपना शत्रु न समझकर मित्र समझें, एक दूसरे का रक्तपात करने के

इच्छुक न रह कर एक दूसरे को सहायता पहुँचावें और इस कार्य में सब अपना अपना स्वार्थ मानें।

"हर्ष—(प्रसन्न होकर) यह मैं भी मानता हूँ। यह परिस्थिति संसार में अवश्य लायी जा सकती है और आप ठीक कहते हैं, यानचांग महोदय, कि जब तक संसार में यह परिस्थिति नहीं लायी जायगी, तब तक कोई भी देश सुखी नहीं हो सकता। आपके इस कथन को भी मैं मानता हूँ कि एक देश इस परिस्थिति की स्थापना में सफल नहीं हो सकता और इसके लिए अनेक देशों में एक साथ तथा सतत प्रयत्न होना चाहिये। वल्लभी के पराजित नरेश सेनापति ध्रुवसेन को मैं वल्लभी का राज्य लौटा कर उसके संग अपनी पालित पुत्री जयमाला का विवाह कर उसे जमाता बनाऊँगा। पुलकेशिन को अब मैं युद्ध कर विजय न करूँगा, परन्तु बिना साम्राज्य के अन्तर्गत किये ही मैत्री स्थापति कर विजय करूँगा। साथ ही, यत्न करूँगा कि अन्य नरेश भी यही करें। (यानचाँग से) चीन-सम्राट से अपने देश में आप यही कराइये। मैंने सुना है, पुलकेशिन से पारस देश का पारस्परिक मैत्री सम्बन्ध है। चीन और आर्यावर्त का सम्बन्ध आप करा दीजिये। इस प्रकार चीन, पारस और भारत इन तीन महान देशों में यदि परस्पर मैत्री हो गई, तो जम्बू द्वीप के अन्यान्य छोटे-छोटे देशों में तो यह कार्य बहुत शीघ्र हो जायगा और फिर संसार का गुरु जम्बूद्वीप इस दिशा में भी अन्य द्वीपों के प्रदर्शन का कार्य करेगा। (कुछ ठहरकर भण्डि से) महा-

बलाधिकृत, अब युद्ध नहीं, इस जीवन में अब मैं युद्ध न करूँगा। मेरा जीवन तथा सारे आर्यावर्त की शक्ति अब इसी शुभकार्य में लगेगी।

"राज्यश्री—(आँखों में आँसू भरकर) धन्य मेरा भाग्य और धन्य आर्यावर्त का।

[कुछ देर तक सब चुप रहते हैं]

"हर्ष—राज्यश्री, सारे विश्व को इस प्रकार एक नवीन संगठन में परिणत करने के लिए, कितने दीर्घ काल और महान प्रयत्न की आवश्यकता होगी, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। फिर प्रयत्न कर्ता यह प्रयत्न अधिकांश में अपने देश ही में कर सकता है, यह भी स्पष्ट है। भारतवर्ष में यह प्रयत्न जिन दिशाओं में होगा उन्हें मैं युगों से सोच रहा हूँ। अब युद्ध को सर्वथा बन्द कर देने के पश्चात् मेरा सारा समय इसी प्रयत्न में जायगा।

"राज्यश्री—वे कौन सी दिशायें हैं, शिलादित्य ?

"हर्ष—वे ही बता रहा हूँ, राज्यश्री। आर्य और बौद्ध-धर्म के एकीकरण के लिये मैं स्वयं शिव, आदित्य और बुद्ध की प्रतिमाओं का एक सार्वजनिक पूजन करूँगा। उसे यज्ञ का रूप देकर अर्यावर्त के समस्त राजाओं, धार्मिक संस्थाओं और प्रजा को सम्मिलित होने का निमन्त्रण दूँगा।

"राज्यश्री—इससे धार्मिक एकता में अवश्य ही बहुत बड़ी सफलता मिलेगी।

"हर्ष—और इसी अवसर पर तुम्हारी ओर से मैं कान्यकुब्ज के कोष में संग्रहीत समस्त धन, सम्पत्ति, रत्न-आभूषण का दान कर दूँगा।

"भण्डि—(चौंककर) सर्वस्व दान।

"हर्ष—हां, सर्वस्व-दान, महाबलाधिकृत मेरे शरीर में जो आभूषण हैं, इन तक का दान। (कुछ रुककर) देखिए, महाबलाधिकृत, नरपतिगण अधिक तर यह कोष-संग्रह अपने विलासों की पूर्ति एवं एक-दूसरे से युद्ध कर अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए करते हैं। इस प्रवृत्ति के नाश के लिए आर्यावर्त के साम्राज्य की ओर से केवल उपदेश नहीं, किन्तु कर्म की आवश्यकता है।

"माधवगुप्त—और आप समझते हैं, परमभट्टारक, कि आपके एक बार इस प्रकार के दान से नरेशों की यह प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी ?

"हर्ष—मैं एक बार ही इस प्रकार का दान न करूंगा।

"माधवगुप्त—तब ?

"हर्ष—प्रजाहित के समस्त कार्यों में व्यय होने के पश्चात् जो कुछ धन साम्राज्य के कोष में बचेगा, उसका हर चौथे वर्ष, युग का अन्त होते ही दान कर दिया करूंगा।"

ऐसे हर्ष के विरोधी शशांक नरेन्द्रगुप्त और आदित्यसेन की भावनाओं को भी देखिए। शशांक अपने सेनापति से कहते हैं—

"शशांक—किसी महान कार्य की सिद्धि के लिए, किन उपायों का अवलम्बन किया गया, यह बात गौण है; कार्य की सिद्धि मुख्य बात है। (धीरे धीरे) राज्यवर्द्धन की हत्या किसी महान कार्य के लिये की गयी थी। यदि वर्द्धनों के विरुद्ध विद्रोह और शिलादित्य की हत्या भी किसी महान कार्य के लिए की जाय तो ये कर्म पाप न होकर पुण्य ही होंगे। फिर महाबलाधिकृत आप तो केवल मेरे और मेरे वंश के गौरव की रक्षा के लिए वर्द्धनों से युद्ध और युद्ध में प्राण त्याग करना चाहते हैं, परन्तु उनकी अधीनता स्वीकार करने में मेरा तो इससे भी कहीं महान उद्देश्य है, जो इस युद्ध और प्राण-त्याग से सिद्ध नहीं हो सकता।

"यशोधवल—वह क्या ?

"शशांक—आर्य-धर्म की रक्षा ..... मैं, आर्य, मैं हृदय से शासित न होकर मस्तिष्क से शासित होता हूँ।"

मस्तिष्क से शासित होने वाले शशांक तो अपने उद्देश्य में सफल न हो सके परन्तु आदित्यसेन हर्ष के पश्चात् बहुत बड़ा राजा अवश्य हुआ। आदित्यसेन यद्यपि हर्ष का विरोधी था, परन्तु वह मस्तिष्क से शासित न होकर हृदय से ही शासित होता था। उसकी कुछ भावनाओं को देखिये। आदित्यसेन का उसकी माता तथा उसके पिता से जो संवाद हुआ उसी से इसका आरम्भ किया जाता है—

"शैलबाला—सभी महापुरुष पूज्यनीय हैं।

"आदित्यसेन—नहीं, कदापि नहीं, सभी पूज्यनीय नहीं हो सकते। कुछ के पूजन से हमारा उत्कर्ष होता है और कुछ के पूजन से हमारा पतन। यदि पिता जी ने परमभट्टारक महाराजाधिराज, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के संग ही हर्ष का भी पूजन न किया होता, तो वे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के समान होते, वर्तमान माधवगुप्त के समान नहीं।

"शैलबाला—बेटा, महापुरुष जन्म से ही होते हैं, पूर्वजों का पूजन और अन्यों की घृणा से कोई महापुरुष नहीं होता, यह मैं भी मानती हूँ परन्तु उसी के साथ अन्यों का पूजन महापुरुष होने में सबसे बड़ी बाधा है, इसमें भी मुझे सन्देह नहीं।

"माधवगुप्त—अपने कुल का गर्व, अपने बान्धवों से सहानुभूति बुरी बातें नहीं। परन्तु इन भावनाओं के कारण यदि अन्य कुलों से ईर्षा की उत्पत्ति हो और इस ईर्षा से अन्धे होने के कारण यदि अन्यों के न्याययुक्त कार्य भी अन्यायपूर्ण दिखें तो यह कुल-गर्व एवं बान्धव सहानुभूति न अपने लिए कल्याणकारी हो सकती है और न किसी दूसरे के लिए।

"आदित्यसेन—निष्पक्षता की दृष्टि से संसार में कोई बात देखी ही नहीं जा सकती।.. ..... यह संसार बुद्धिमानों और बलवानों के लिये है। जिनमें बुद्धि है, जिनमें बल है, वे दूसरों पर अत्याचार कर सकते हैं; उनका अत्याचार, पक्षपात तथा स्वार्थपूर्ण होते हुए भी संसार न्यायपूर्ण मानता है। पिता जी,

मैं तो इस संसार में महत्वाकांक्षा से अधिक महत्वशाली और सफलता से अधिक सफल वस्तु और कोई है, यह मानता ही नहीं। महत्वाकांक्षा से भरा हुआ व्यक्ति जीवन संग्राम में जब सफलता प्राप्त कर लेता है तब वह महापुरुष-पद को प्राप्त करता है। संसार उसीका अनुसरण करता है, चाहे इने-गिने व्यक्ति उसे बुरा कहें, पर जनसमुदाय उसी का पूजन करता है। सारे संसार के इतिहास में जिन्हें महापुरुष पद-प्राप्त हैं वे सब इसी कोटि के हैं, निष्पक्षता और निस्वार्थता ढकोसला है, बिडम्बना है।

"माधवगुप्त—हर्षवर्द्धन का साथ देने के लिए मेरी अन्तरात्मा मुझे प्रोत्साहन देती है, हर्षवर्द्धन की न्याय-परायणता एवं उनके सच्चे स्नेह तथा शशांक नरेन्द्रगुप्त के अत्याचार एवं उसके विश्वासघात के कारण। तेरी स्वतन्त्रता का यदि अपहरण होगा तो उसका कारण होगा तेरी उद्दण्डता और बार बार मेरी सम्मति की उपेक्षा।

"आदित्यसेन—(अत्यन्त दृढ़ता से) मैं इसके लिए तैयार हूँ, पिता जी।

"शैलबाला—(बहुत ही घबड़ाकर खड़े होते हुए)) यह क्या, यह क्या हो रहा है ? (माधवगुप्त की ओर देखकर गिड़गिड़ाते हुए) क्या कह रहे हैं, नाथ, आप ! (आदित्यसेन की ओर देख, गिड़गिड़ाते हुए) और क्या कहता है बेटा तू ! पिता पुत्र की स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा और पुत्र पिता की आज्ञा का उल्लंघन !

"आदित्यसेन—(रूखे स्वर में) यह कर्तव्य क्षेत्र है, मां, जिसे पिता जी अपना कर्तव्य समझते हैं उसे वे, और जिसे मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ उसे मैं करूँगा।

"शैलबाला—(जल्दी जल्दी) यह कैसा कर्तव्य क्षेत्र है ? कर्तव्य क्षेत्र में क्या हृदय को कोई स्थान नहीं है ? क्या यह क्षेत्र हृदयहीनता से ही भरा हुआ है ? (माधव गुप्त से) नाथ, क्या पुत्र के लिए पिता के हृदय में माता के हृदय का सा स्नेह नहीं रहता ? आदित्य की बाल्यावस्था में तो यह नहीं जान पड़ता था। उस समय तो, नाथ, इसकी एक एक मुस्कान पर, इसकी एक-एक बाल-क्रीड़ा पर आप सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। क्या इसके युवा होने ही वह सारा स्नेह कर्पूर हो गया। आजकल तो नित्यप्रति इसी प्रकार का कोई न कोई प्रसंग उपस्थित रहता है। आपका पुत्र, आपके प्राणों से प्यारा पुत्र, आपके द्वारा ही बन्दी बनाया जावे, आपके द्वारा ही परतन्त्र किया जावे, पिता पुत्र को कारावास भिजवाये, यह सब क्या है, यह सब क्या है नाथ !"

आदित्यसेन इस प्रकार की भावनाओं के कारण अपने घर में न रह सका। वह शशांक से जा मिला और दोनों ने मिलकर विप्लव किया। शशांक ने, आदित्यसेन सफल होगा, यह भविष्यवाणी की और उसका कारण बताया—

"शशांक—(नेत्रों को पोंछते हुए) तेरे और मेरे स्वप्न में अन्तर नहीं है, बेटा फिर भी वर्द्धनों के जिस नाश को तू अपना

स्वप्न कहता है, उसके सत्य होने में भी अब तो बहुत कम सन्देह और बहुत कम समय रह गया है। परन्तु, परन्तु उसके सत्य होने का कारण भी मैं नहीं, यथार्थ में तू ही है, बेटा।

"आदित्यसेन—यह कैसे पिता जी ?

"शशाँक—(आदित्यसेन को एक टक देखते हुए धीरे धीरे) यह कैसे ? इसमें गूढ़ ... ... बड़ा गूढ़ रहस्य है। तू हृदय से शासित होता है, बेटा, और मैं, मैं मस्तिष्क से मस्तिष्क का शासन छोटे-छोटे कार्यों, छोटे-छोटे षड्यन्त्रों को चाहे सफल करदे, परन्तु ... ... ।"

माधवगुप्त ने विप्लवी पुत्र को क़ैद कर हर्ष के सर्वस्वदान के अवसर पर हर्ष के सम्मुख उपस्थित किया और उसे प्राण दण्ड दिया जाय, यह प्रार्थना की। उस समय की परिस्थिति नाटक में सुन्दरता से दिग्दर्शित की गयी है।

"शैलबाला—भिक्षा माँगतीं हूँ, परम भट्टारक, अपने इस एकलौते पुत्र के प्राणों ... ... ।

"आदित्यसेन—(सिर उठाकर, गरजकर) क्या, क्या, कह रही है। माँ, क्या कह रही है। क्षत्राणी होकर भिक्षा। जो प्राण एक दिन जाना ही है, उसकी भिक्षा ! शत्रु से भिक्षा ! उत्तम होता, यदि मैं तेरे गर्भ में ही प्रवेश न करता। उत्तम होता, यदि मैं जन्मते ही मर जाता। मेरा इस लोक का जीवन तो समाप्त हो रहा है, पर मरते समय भी पिता के सदृश क्या

माता का भी स्मरणकर मुझे तू गौरव का अनुभव न करने देगी ? क्या माता का नाम लेकर भी यह आदित्यसेन सहर्ष अपने प्राण न दे सकेगा ? (हर्ष से) वर्द्धनराज, आप मेरी माता की बात न सुनिए, उस ओर ध्यान ही न दीजिए। पिता जी के कथनानुसार इस अन्तिम गुप्तवंशीय को प्राण दण्ड देकर मेरे गौरव की रक्षा कीजिए। मेरा गौरव न मेरे पिता पर अवलम्बित है और न माता पर। (अपना वक्षस्थल फुलाकर सिर ऊँचा उठाते हुए) वह मुझ पर अवलम्बित है, केवल मुझ पर।"

हर्ष ने आदित्यसेन को मुक्त कर दिया। उसे मुक्त करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा वह नाटक का अन्तिम भाषण है—

"हर्ष (शान्ति से मुस्कराते हुए) नवयुवक, तुम सच्चे नवयुवक हो। युवावस्था में जैसा तेज, जैसा उत्साह, जैसी निर्भीकता होनी चाहिए वैसी ही तुममें है। परन्तु देखो, तुम्हारे ये सद्गुण तुम्हारे एक विवेकहीन विश्वास के कारण तुम्हें ठीक पथ पर न चला कर पथ-भ्रष्ट कर रहे हैं। आदित्यसेन, तुम मुझे वृथा ही गुप्त वंश का शत्रु मान रहे हो। मैंने अपने वंश का गौरव बढ़ाने के लिए यह राज्य ग्रहण नहीं किया है। मेरे विवाह न करने के करण वर्द्धन-वंश का तो कोई वंशज ही न रहेगा। अपने उत्कर्ष के लिए भी यह पद मैंने नहीं लिया है, यदि ऐसा होता तो मैं स्थाणीश्वर को कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य क्यों बनाता ? पुत्र, मुझे अपने से और अपने वंश से

कभी आसक्ति का अनुभव नहीं हुआ, न किसी विशिष्ट धर्म और देश से अनुराग। इस विशाल विश्व को ही अपना देश मान, सारे धर्मों पर समान रूप से श्रद्धा रख अपने पराये सभी को अपना बन्धु समझ, मैंने अपने जीवन का अब तक का समय व्यतीत करने का प्रयत्न किया है। हाँ, इतने पर भी मुझे अनेक युद्ध करने पड़े हैं, अनेक विद्रोहियों का दमन करना पड़ा है, परन्तु उस परिस्थिति में कदाचित् वह अनिवार्य था। यदि मेरा अब तक का जीवन मेरी अभी कही हुई बातों को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, तो तुम्हें अपने कथन की सत्यता का अन्य कौन सा प्रमाण दे सकता हूँ? (कुछ रुक कर) मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, आदित्यसेन, इसलिए नहीं कि तुम्हारी माता ने मुझसे तुम्हारे प्राणों की भिक्षा माँगी है, परन्तु इसलिए कि तुमसे अधिक तेजस्वी, तुमसे अधिक उत्साही, तुमसे अधिक निर्भीक अन्य कोई युवक मुझे इस समय इस आर्यावर्त में दिखाई ही नहीं देता। तुमने यदि इन सद्गुणों का, अपने और और अपने वंश के उत्कर्ष में उपयोग न कर लोक-सेवा में उपयोग किया तो मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इस आर्यावर्त के परम प्रतापी, सच्चे लोक-सेवी सम्राट होगे और तुम्हारी कृति से तुम स्वयं तथा यह जगत दोनों ही अनुपम सुख का अनुभव करेंगे। (सैनिकों से) छोड़ दो, सैनिको आदित्यसेन को मुक्त कर दो।"

हर्ष अपने उद्देश्यों में सफल न हुए। परन्तु इससे क्या?

इस विषय में उन्हीं के महामन्त्री और महा-सेनापति का संवाद सुनिए—

"भण्डि—अब तक उनके सारे प्रयोग असफल हुए हैं। पहले वे सिंहासन पर न बैठ प्रजा की सेवा करना चाहते थे, वह न हुआ और उन्हें सिंहासनासीन होना पड़ा। फिर उन्होंने साम्राज्ञी को सिंहासन पर बिठा महिलाओं को पुरुषों के सदृश अधिकार दिलाने की बात सोची, पर आज भी पुरुष उच्च और महिलाएँ निम्न मानी जाती हैं, फिर उन्होंने स्वयं कान्यकुब्ज का माण्डलीक बन कर अपने उदाहरण द्वारा बिना युद्ध के ही प्रत्येक देश को साम्राज्य का समानाधिकारी बनाना चाहा वह प्रयत्न भी असफल हुआ और उन्हें अनेक वर्ष नहीं, परन्तु अनेक युग युद्ध में व्यतीत करने पड़े। अब राज्यों की परस्पर मैत्री और युद्ध के लिए धन-संग्रह के विरोध में स्वयं सर्वस्व दान कर अन्य नरेशों को इस दिशा में आकर्षित करने का यह प्रयोग कहाँ तक सफल होगा सो तो पहले प्रयोगों से भी अधिक स्पष्ट है।

"माधवगुप्त—परन्तु मित्र, छोटी-छोटी बातों में सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा महान् कार्यों में असफल हो जाना कहीं श्रेष्ठ है·····संसार में महान व्यक्ति महान कार्यों का प्रयोग करने को आते हैं, उनके कार्य किसी न किसी नवीन दिशा में होते हैं, इतना गत इतिहास से अवश्य जान पड़ता है। अनेक कार्यों का फल तत्काल मिला है और अनेक का शताब्दियों पश्चात्। किन बातों से मानव-समाज का स्थायी कल्याण

होगा, यह अब तक सिद्ध नहीं हो पाया, क्योंकि जैसा मैंने अभी दो बार तुम से कहा कि हम यह नहीं जानते कि मानव-समाज किस ओर, किस प्रकार जा रहा है। मैं परमभट्टारक को महा-पुरुष मानता हूँ। जो बातें वे करना चाहते हैं उन पर मैं सम्मति अवश्य देता हूँ, परन्तु अन्त में उनके निर्णय को मैं मस्तक झुकाकर स्वीकृत कर लेता हूँ, क्योंकि जहाँ तक उनकी पहुँच है, वहाँ तक मैं अपनी नहीं मानता।

"भण्डि—तुम्हारे इस सिद्धान्त के अनुसार साधारण कोटि के मनुष्यों के कार्य की तो कोई दिशा रह ही नहीं जाती।"

"माधवगुप्त—यह मैं नहीं मानता। उनकी कार्य-दिशा महापुरुषों का अनुसरण है।

"भण्डि—परन्तु, महापुरुष भी एक दिशा में तो नहीं चले हैं! किसका अनुसरण किया जावे?

"माधवगुप्त—जो जिसे महान् पुरुष दिखे तथा जिसकी कृति में कम से कम स्वार्थ और अधिक से अधिक परमार्थ दृष्टि-गोचर हो।"

'हर्ष' नाटक में हर्ष के जीवन की सारी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। उनमें लेखक ने कोई परिवर्तन नहीं किया। परन्तु उन घटनाओं के उद्देश्यों के सम्बन्ध में गोविन्ददास जी ने अपने मतों को काम में लाया है। इस सम्बन्ध में वे 'हर्ष' की भूमिका में लिखते हैं—

"मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़कर उसे एक नई कथा ही बना दे। हाँ, कथा का अर्थ (Interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है। मैंने इस नाटक के लिखने में यही नीति अपने समक्ष रखी है तथा सर्वत्र इसका इसी प्रकार पालन किया है।"

गोविन्दास जी का 'कुलीनता' भी ऐतिहासिक नाटक है।

कुलीनता

इस नाटक पर महाभारत में कर्ण द्वारा कहे हुए श्लोक का एक चरण आदर्श वाक्य के रूप में लिखा हुआ है। यह चरण है—"देवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्" अर्थात् "किस कुल में जन्म होता है यह दैव के हाथ है, परन्तु पौरुष मेरे हाथ।" सारे नाटक में इसी विचार का विकास हुआ है। इस नाटक की कथा उस काल की है जब त्रिपुरी पर हैहयवंशी कलचुरि क्षत्रियों का राज्य था। कलचुरि वंश में गांगेयदेव और कर्णदेव बड़े प्रसिद्ध सम्राट् हो चुके थे, परन्तु अब कलचुरियों में निर्बलता आ गई थी और विलासप्रियता का दौर-दौरा था। उस वंश के अन्तिम राजा अजयसिंह देव का राज्य था। शहाबुद्दीन गोरी ने उत्तर भारत के अनेक हिन्दू राजाओं को हरा त्रिपुरी के पड़ोसी कालिंजर राज्य पर भी विजय प्राप्त कर ली थी—और उसके गौरी लौट जाने पर उसका उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक त्रिपुरी पर भी हमला करने वाला था। इस हमले को बचाने के उद्देश्य से अपने

सेनापति की सम्मति के अनुसार अजयसिंह देव ने सन्धि के लिए कुतुबुद्दीन ऐबक का माण्डलीक राजा बनने की स्वीकृति भेजी थी। अजयसिंह देव अपनी सभा में बैठे हुए थे। नृत्य और मद्यपान हो रहा था। यह था त्रिपुरी पर आक्रमण के बचने की खुशी में। इसी अवसर पर राज्य के महामंत्री सुरभी पाठक ने सभा में प्रवेश कर इस राग रंग को बन्द करने की आज्ञा दी। वे वृद्ध ब्राह्मण थे और इस प्रकार की सन्धि के स्थान पर स्वतंत्रता की रक्षा के लिए युद्ध चाहते थे। यहीं से नाटक का आरम्भ हुआ है। महामंत्री का राजा और सारे राज्य पर अत्यधिक प्रभाव था। उनकी आज्ञा ने उस राग रंग को भंग कर दिया और राजा, मंत्री एवं सेनापति में युद्ध और शान्ति में कौन मार्ग श्रेयस्कर है इसपर विवाद चल पड़ा—

"अजयसिंह देव—..... फिर एक ओर अनेक निर्दोषों का व्यर्थ ही रक्त बहाना है, अनेकों को क्रीतिदास बनवाना है, मूर्तियों को तुड़वाना और मन्दिरों को भ्रष्ट करवाना है, धर्म के नाम पर घोर अधर्म करना है और दूसरी ओर यह सन्धि है।

"सुरभी पाठक—कैसा अधर्म परम भट्टारक ? कुछ का रक्तपात और कुछ के क्रीतिदास बनने का भय मनुष्य को उसके सच्चे कर्तव्य से च्युत नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता और सद् सिद्धान्तों की रक्षा होते हुए एक चिऊँटी तक के प्राण न जायें तो बड़ी उत्तम बात है, पर स्वातन्त्र्य और सद सिद्धान्तों की रक्षा बिना युद्ध के यदि सम्भव नहीं है

तो अक्षौहणियों की भी कोई गणना नहीं। भगवान बुद्ध का अहिंसा सिद्धान्त उच्च, अत्यन्त उच्च है, पराये राज्य पर आक्रमण कर व्यर्थ के रक्त-पात को मैं वीरता नहीं, पर नीचता की कृति मानता हूँ, पर, स्वातंत्र्य की और सच्चे सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अहिंसा के द्वारा जब तक कोई उपाय संसार में नहीं निकल आता तब तक हिंसा के भय से देश को परतन्त्र और देश निवासियों को दास नहीं बनाया जा सकता। मूर्तियों और मन्दिरों से आपका क्या अभिप्राय है महाराज! यह तो वही बात है जो सिन्ध में हुई थी, मुसलमानों के सिन्ध विजय के पश्चात् कान्यकुब्ज नरेशों के बलवान होने पर भी उन्होंने इसीलिए सिन्ध पर आक्रमण नहीं किया कि मुसलमान डर बताते थे कि सिन्ध पर आक्रमण होते ही वे मुल्तान की प्रसिद्ध मार्तण्ड मूर्ति को तोड़ डालेंगे। श्रीमान् मैं वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ कि कुछ मन्दिरों के मस्जिद बनने के भय और कुछ मूर्तियों के टूटने के डर से देश की स्वतन्त्रता को खो दूँ। देश स्वतन्त्र रहा तो अगणित मन्दिरों और मूर्तिओं की स्थापना हो जायगी।"

यह विवाद बहुत बढ़ा। जब सेनापति ने युद्ध न करने पर ही ज़ोर दिया तब मन्त्री ने सेनापति को उसके कार्य के अयोग्य बता सेनापति का पद यदुराय नामक गोंड़ को देने का प्रस्ताव किया। गोंड़ इस समय अस्पृष्य थे। यदुराय गोंड़ों का युवक नेता और अजयसिंह देव की पुत्री रत्नावली का प्रेमी था।

इसी अपराध पर उसका त्रिपुरी से निष्कासन हुआ था। एक अस्पृष्य कलचुरियों के कुलीन राज्य का महासेनापति! यह बात ही अचिन्त्य थी। अजयसिंह ने सुरभी पाठक को पदच्युत कर उन्हें बन्दी करने की आज्ञा दी। सुरभी पाठक बन्दी न हो सके। वे भागे और यदुराय से मिलकर एक नवीन सेना का संगठन कर उन्होंने त्रिपुरी राज्य को फिर से स्वतन्त्र राज्य बनाया। अस्पृश्य यदुराय का कुलीन क्षत्रिय कलचुरि वंश की राजकुमारी रत्नावली से विवाह हुआ और अजयसिंह देव के पुत्र न होने के कारण यदुराय ही त्रिपुरी का राजा हुआ। यह नवीन कुल इतिहास में राज-गोंड़ नाम से विख्यात है। गोड़ों की अस्पृश्यता का अन्त इसी महान घटना के पश्चात् हुआ है। इसी कुल में आगे चलकर वीरांगना महारानी दुर्गावती हुई हैं।

यह नाटक भी अपने काल का सजीव चित्र है और इसके यदुराय, सुरभी पाठक, रत्नावली, उसकी सखि चन्द्रभागा आदि पात्रों के भावों का नाटक में अपूर्व दिग्दर्शन कराया गया है।

निष्कासित यदुराय अपने मित्र मंडला के गोंड़ राजा नागदेव से कहते हैं—

"यदुराय— ..... किसी भी कारण जिन्हें उच्च-पद प्राप्त है या जो संयोग वश उच्चकुल में उत्पन्न हो जाते हैं, वे अपने से निम्न, या निम्न कहे जाने वाले कुलों में जन्म लेने वाले व्यक्तियों को चाहे वे निम्न व्यक्ति संयोग से ही निम्न हो, विचारों में

और कृतियों में उन उच्च और कुलीन कहे जाने वालों से कितने ही उच्च हों, हेय दृष्टि से देखते हैं, यह ऊँच नीच भावना मानव समाज के रुधिर में प्रविष्ट हो गई है। ..... हम गोंड़ों के लिए जो इस प्यारी भूमि के आदि निवासी हैं, जिस भूमि के (सामने के खेतों और मैदानों की ओर संकेत कर) इन लह-लहाते खेतों और मैदानों, (सामने की ओर के पहाड़ों को लक्ष्य कर) इन सुन्दर पर्वत श्रेणियों और उनके वनों, वृक्षों, लताओं, पुष्पों और फलों, (दूर पर बहती हुई नर्मदा की ओर संकेत कर) इन नदियों और झरनों पर पहले हमारा अधिकार था, उन्हीं गोंड़ों के लिए इन ब्राह्मणों और क्षत्रियों के हृदय में कैसे विचार हैं उसे तुम नहीं जानते मित्र !

"नागदेव—कई बार तुमने कहा अवश्य है।

"यदुराय—पर कहने से वह पूर्ण रीति से अनुभव नहीं किया जा सकता। वे हमें पशुओं से भी निकृष्ट समझते हैं, हममें कितने ही उच्च गुण क्यों न हों, हम उनके राज्यों में किसी भी उत्तरदायी पद पर आसीन नहीं हो सकते। हम कितने ही सुन्दर क्यों न हों, हम उनकी कन्याओं से विवाह नहीं कर सकते। हम कितने ही स्वच्छ क्यों न रहें, हमारा छुआ हुआ भोजन उनके खाने योग्य नहीं रह जाता। इतना ही नहीं, यदि देश पर आपत्ति आवे, तो यद्यपि हम उनकी अपेक्षा इस देश के पुराने निवासी हैं, हमें अपने देश की रक्षा करने का भी अधि-

कार नहीं है। और हमारा दोष क्या है? गोंड़-कुल में जन्म ही हमारा दोष है .....। जब मैं सुनता था कि शहाबुद्दीन गोरी की सेना ने दिल्लीपति पृथ्वीराज की सेना को परास्त किया, कान्यकुब्ज-पति जयचन्द को हराया, महोबा-पति परमाल देव पर विजय प्राप्त की, तब मेरे शरीर में विद्युत दौड़ जाती थी, मैं विचारने लगता था कि जब जब त्रिपुरी पर उसका आक्रमण होगा तब त्रिपुरी राज्य की रक्षा मैं करूँगा।

"नागदेव—धन्य है तुम्हारा साहस और देश-भक्ति।

"यदुराय—सेना में साधारण भट होने पर भी मैं महा-सेना-पति के समान विचारों में डूबा रहता था। मिट्टी और कागजों पर मैं युद्ध-क्षेत्र और सेना के आवागमन के मार्गों के मानचित्र बनाता था। एक नहीं, इस प्रकार के सैकड़ों मानचित्र मैंने बना डाले होंगे।

"नागदेव—धन्य है तुम्हारा उत्साह।

"यदुराय—मैं यद्यपि अकुलीनों के प्रति कुलीनों के भावों को जानता था, पर वे भाव इतने गहरे हैं, यह मुझे उस समय तक ज्ञात नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अकुलीन होने के कारण इन सब विचारों को कार्य-रूप में परिणित करने का मुझे अधिकार ही नहीं है।..... चलो, वहीं चलो, जहाँ कुलीनता, अकुलीनता की एकता है, जहाँ

क्षत्रिय और गौड़ की एक गति है जहाँ ऊँच-नीच का कोई भेद भाव नहीं है—वहीं मुझे सान्त्वना मिलती है, वहीं।

"नागदेव—कहाँ? स्मशान में?

"यदुराय—देखो मित्र, कैसा सुन्दर और रमणीय स्थान है, इसीलिए तो गोड़ों के आदि देव शंकर इसी भूमि में विहार करते हैं, यहाँ तुम्हें कहीं भेद-भाव दृष्टिगोचर होता है? (एक बुझी हुई चिता के निकट जा कुछ राख उठाकर) यह कुलीन के शव की राख है या अकुलीन के? (दूसरी बुझी हुई चिता की राख उठाकर) इस राख और उस राख में कोई अन्तर है? (एक जलती हुई चिता के निकट जाकर) इसमें किसका शव है? यदि एक में कुलीन का है और दूसरी में अकुलीन का, तो इन दोनों के जलने की विधि में तो कोई अन्तर नहीं है न? (एक खोपड़ी उठाकर) यह किसकी खोपड़ी है? कुलीन की या अकुलीन की? कोई भी कह सकता है मित्र? कोई नहीं; परन्तु जब इसके भीतर मज्जा होगी और ऊपर चर्म एवं केश होंगे, जब इसकी नाड़ियों में रक्त संचार होता रहा होगा, इसकी आँखों के इन दोनों गड्ढों में आँखें होंगी और इसके दाँतों के बीच में जीभ, उस समय यदि यह किसी कुलीन के सिर पर लगी होगी तो इसमें अकुलीनों के लिए कैसे भाव उठे होंगे? इसकी आँखों ने अकुलीनों को कैसी हेय दृष्टि से देखा होगा? इसकी जीभ ने अकुलीनों का कितना तिरस्कार किया होगा? (खोपड़ी को फेंकते हुए) चल, दूर हट, कुलीनों की खोपड़ी! (उसे फिर उठाकर) नहीं नहीं,

मित्र, मैंने निरर्थक ही इस खोपड़ी का अपमान किया। कदाचित् यह किसी अकुलीन की ही हो।"

सुरभी पाठक यदुराय से कहते हैं—

"सुरभी पाठक—जिस दिन तुम्हारे हाथों त्रिपुरी का उद्धार हो जायेगा, उसी दिन आप से आप अपने को कुलीन कहने वाले इन पतितों का पतन और तुम्हारा उत्कर्ष हो जायगा। चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्र था पर जैसे ही उसने देश से विदेशियों को निकाल बाहर किया वैसे ही उसका ऐसा उत्कर्ष हुआ जैसा उस समय के किसी कुलीन का न हुआ था। प्रश्न इन पतित कुलीनों से बदला लेने का नहीं, पर देश को स्वतंत्र करने का है।"

रत्नावली यदुराय के निष्कासन पर अपनी सखी चन्द्रभागा से कहती है—

"रत्नावली—उन्हें इसीलिए निर्वासित किया गया है कि वे अकुलीन हैं और मेरे संग उनका रहना—यह परम भट्टारक की कुल मर्यादा के विरुद्ध समझा गया?

"चन्द्रभागा—हाँ, और कोई दोष तो उनमें नहीं सुना गया; वरन् यह सुना जाता था कि सेना के कार्य में उनकी अद्भुत और तीव्र गति थी—ऐसी कि जैसी किसी बलाधिकृत की भी नहीं थी।

"रत्नावली—और इतने पर भी वे साधारण भट थे?

"चन्द्रभागा—कुलीनता के गर्व से गर्वित कलचुरियों के राज्य में कोई पद अकुलीनों को मिले यह कैसे हो सकता है?

रत्नावली—(ऊपर देखकर) चन्द्रभागा, चन्द्रमा की ये किरणें—दोनों ओर की चट्टानों को भी उसी प्रकार आलोकित करती हैं, जैसे मनुष्य शरीर को।

"चन्द्रभागा—ठीक उसी प्रकार राजकुमारी।

"रत्नावली—फिर क्या गुणों का आलोक कुलीनों और अकुलीनों दोनों के अन्तःकरणों को समान रूप से प्रकाशित न करना होगा ?

"चन्द्रभागा—मैं नहीं कब कहती हूँ ? मैं तो इस वंश की परम्परागत रीति तुम्हें बता रही हूँ।

"रत्नावली—(ऊपर देखकर) इस चन्द्र में, इसके कुटुम्बी तारागणों में, (चट्टानों को देखकर) इन चट्टानों में, (चट्टानों के ऊपर देखकर) इन चट्टानों के ऊपर के वन में, (नीचे जल को देखकर) और इस नर्मदा के जल में कोई कुलीनता अकुलीनता का भेद नहीं दिखता।

"चन्द्रभागा—सत्य है रत्नावली।

"रत्नावली—समस्त सृष्टि के पदार्थ एक दूसरे के साथ प्रेम से निवास करते हुए दिखायी देते हैं। यह चन्द्र अपनी शीतल किरणों का सुख, सभी को पहुँचाता है, यह नर्मदा अपने निर्मल नीर से सभी को प्रफुल्लित करती है, फिर मनुष्य ने ही एक दूसरे के बीच में भेद भाव की इस खाई को क्यों खोद रक्खा है ?

"चन्द्रभागा—इसीलिए तो मनुष्य दुःखी हैं राजकुमारी, उसके सारे दुःखों की मूल यह भेद बुद्धि ही है।

"रत्नावली—तो सखी, बहुत दिनों से जो निश्चय न कर सकी थी वह आज मैंने कर लिया, अभी तुमसे कहा था न कि मैं क्या करूँगी।

"चन्द्रभागा—हाँ, कहा था। क्या निश्चय किया?

"रत्नावली—वह, मानव समाज के इस भेद भाव का नाश ही मेरे जीवन का कार्य होगा?

"चन्द्रभागा—अब तो अपने कुल में संघर्ष से ही इसका श्री गणेश होगा।"

रत्नावली त्रिपुरी के सेनापति चण्डपीड़ को उसके साथ विवाह करने के प्रस्ताव पर उत्तर देती है:—

"रत्नावली—वह मनुष्य नहीं देवता है, उसने उसी देश को स्वतन्त्र करने का बीड़ा उठाया है जिससे तुमने विदेशियों के हाथ बेंच दिया है। थोड़ा उसे देखो और अपने को देखो, थोड़ा उसके हृदय के साथ अपने हृदय की तुलना करो, थोड़ा उसकी छबि के साथ अपनी छबि का सामंजस्य करो। उसमें शौर्य, त्याग और महानता है, तुममें षड्यन्त्र, स्वार्थ और नीचता।"

चन्द्रभागा अपने पति देवदत्त से जो त्रिपुरी का उपसेनाध्यक्ष है कहती है—

"जब देश के इस काल का इतिहास लिखा जायगा उस

समय ये पदाधिकारी जो अपने को देव-तुल्य समझते हैं, साधारण मानवों के रूप में भी नहीं, परन्तु राक्षसों और पिशाचों के रूप में चित्रित किये जायंगे। जो बिचारे भट हैं उनको नाम ले लेकर तो उन्हें कोई न कोसेगा, क्योंकि उनके नाम इतिहास में अंकित ही नहीं रह सकते, पर ये पदाधिकारी तो नाम ले लेकर कोसे जायँगे। ..... बलाधिकृत के नाते दुष्कर्म करने की अपेक्षा साधारण भट के नाते सत्कार्य करने का अधिक महत्व है।"

जब अगणित प्रयत्न करने पर भी चन्द्रभागा अपने पति को ठीक मार्ग पर नहीं ला सकती तब वह स्वयं देश के स्वातंत्र्य संग्राम में युद्ध करने का निश्चय करती है—

"चन्द्रभागा—अच्छा नाथ, तो फिर पत्नी पति के पाप का प्रायश्चित करेगी, त्रिपुरी को विदेशियों के हाथ बेचने वालों का पक्ष लेकर आपने जो युद्ध किया है उसका प्रायश्चित मैं करूँगी। आपकी अर्द्धांगिनी के नाते मृत्यु लोक में अपना कलंक धोऊँगी। और परलोक में आपको नरक में न गिरने देकर स्वर्ग में खींचकर ले जाऊँगी। अब आपसे रणक्षेत्र पर ही भेंट होगी।"

यदुराय की विजय और रत्नावली के साथ उसके विवाह के पश्चात् जब यदुराय सम्राट और रत्नावली साम्राज्ञी होने जा रहे हैं तब चन्द्रभागा रत्नावली से कहती है—

"चन्द्रभागा—संसार में प्रायः यह होता है कि सत्ता और सुख मिलने के पूर्व मनुष्य बहुत से बड़े बड़े शुभ संकल्प किया करता है, परन्तु जहाँ सत्ता प्राप्त हुई और सुख मिला कि सब संकल्पों को विस्मृत कर उस सुख में लिप्त हो जाता है और उस सत्ता का उपयोग अपने सुख की पूर्ति के लिए करने लगता है ..... तुम्हारे पति, महामंत्री जी की सम्मति से राज्य कार्य बड़ी उत्तमता से चलायेंगे, परन्तु, जो राज्य केवल पुरुषों के हाथ में रहता और केवल नियमों के अनुसार ही चलता है उसमें हृदय और विशेषकर नारी हृदय की कोमलता से जो एक प्रकार के कार्य हो सकते हैं, उनका अभाव रह जाता है।..... इस महादेवी के पद से अपने स्वाभाविक कोमल हृदय द्वारा जब तुम प्रजा की सेवा करोगी तब तुम्हारे राज्य में वह अभाव भी न रह जायगा।"

नाटक का अन्त होता है अजयसिंह देव के इस कथन से—

"अजयसिंह देव—जिन्हें कुछ समय पूर्व जिस धर्म के अनुसार प्राणदण्ड की व्यवस्था दी गई थी, जिस राज्य में दी गई थी, उसी धर्म के अनुसार और उसी राज्य में उन्हीं का यह उत्कर्ष, इस बात को सिद्ध कर देता है कि संसार में कर्म ही मुख्य है और कुलीनता कर्म पर ही निर्भर है।... जिसने देश को विदेशियों से स्वतन्त्र किया है, जिसने आज वह कर्म करके बताया है जो बड़े बड़े कुलीन भी न कर सके थे—वही इस राज्य का सच्चा अधिकारी है और आप सबकी सम्मति से उसी को

मैं त्रिपुरी का राज्य तिलक कर यह राज्य मुकुट, राज्य दण्ड तथा समस्त राज्य चिह्न अर्पण करता हूँ।"

विश्वासघात

विश्वासघात नाटक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना पलासी के युद्ध की कथा पर है। इस नाटक का आरम्भ होता है बंगाल के मंत्री रायदुर्लभ, सेनापति मीरज़ाफ़र और दो व्यापारी जगत सेठ तथा अमीचंद की गुप्त मंत्रणा से, और अन्त होता है बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के वध से। रायदुर्लभ पाखण्डी, धर्मनिष्ठ विश्वासघाती है, मीरज़ाफ़र बुज़दिल विश्वासघाती और जगत सेठ तथा अमीचन्द स्वार्थी विश्वासघाती। इन विश्वास-घातियों का नेता है अमीचन्द जो अंग्रेजों और इन कुचक्रियों के बीच दलाली का सारा कार्य करता है। सिराजुद्दौला के साथ उसके कर्मचारी और प्रजाजन विश्वासघात करते हैं और अमीचन्द के साथ क्लाइव। अमीचन्द का छोटा भाई चन्द्रविलास, जिसका विवाह आगे चलकर जगत सेठ की पुत्री रोहिणी से होता है, दूरदर्शी, दार्शनिक और देशभक्त व्यक्ति है। सिराजुद्दौला विलास प्रिय होते हुए भी बहादुर मनुष्य है और उसकी तिरस्कृत की हुई बेगम लुत्फुन्निसा हिन्दू होने के कारण सच्ची पतिव्रता। नाटक अपने समय का सजीव चित्र होते हुए शृंगार, वीर और करुण रसों से ओत-प्रोत भरा हुआ है। इस नाटक के भी कुछ उद्धरण देखिए—

चन्द्रविलास अपने गुमाश्ते से कहता है—

"चन्द्रविलास—बात तो यह है कि जो यहाँ आता है, उसे कोई न कोई सहायक मिल ही जाता है। मुसलमानों को जयचन्द ने निमन्त्रण दिया था और यदि उड़ती हुई बातें सत्य हैं तो अंग्रेज़ों को सहायता दे रहे हैं मेरे भाई अमीचन्द।"

अमीचन्द और चन्द्रविलास में अंग्रेज़ी राज्य के सम्बन्ध में वार्तालाप होता है—

"अमीचन्द—अभी नवाबी में जो मनमानी होती है, यह सब बन्द हो जायेगी। सब कार्य नियमानुसार होंगे। सब बातों के कानून कायदे बन जायेंगे। लोगों को इस प्रकार के कर न देना पड़ेंगे। सतियों का सतीत्व बचेगा। दीनों को भोजन मिलेगा। देश के व्यापार और कला कौशल एवं कृषि की वृद्धि होगी। नित्य नये नये आविष्कार होंगे। जैसे इंग्लैंड की प्रजा सुख भोग रही है वैसा भारतीय प्रजा को भी मिलेगा। ... अंग्रेजों से बढ़कर न्याय-परायण और प्रबन्ध करनेवाली संसार में कोई दूसरी जाति ही नहीं है। यह तो इस अभागे देश का सौभाग्य उदय हुआ है कि अंग्रेज़ जाति यहाँ पर आयी है। भाई, अब यहाँ सतयुग आ जायगा, सतयुग।

"चन्द्रविलास—सतयुग तो समय पर ही आयगा भाई साहब, पर यहाँ का सत् निकलकर सात समुद्र पार अवश्य चला जायगा। आप भारी भूल कर रहे हैं।

"अमीचन्द—कैसे ?

"चन्द्रविलास—मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि किसी भी देश की भलाई किसी विदेशी जाति द्वारा नहीं हो सकती

"अमीचन्द—और मुसलमान जो इस देश में हैं ?

"चन्द्रविलास—मुसलमान भी इस देश में विदेशी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

"अमीचन्द—फिर ?

"चन्द्रविलास—परन्तु अब वे शनैः शनैः इस देश के होते जा रहे हैं, दूसरे अब उनका यहाँ से निकलना सम्भव नहीं। आप अंग्रेजों को सहायता दे एक और समस्या न खड़ी कीजिए। ..... जो आज आपको रक्षक दिखते हैं, कल वे ही आपके भक्षक हो जायँगे। आज आप इन्हें बुलाने तो जा रहे हैं, बुलाना तो आपके अकेले हाथों में है, पर स्मरण रखिए इन्हें निकालना भारत की करोड़ों भुजाओं की शक्तिके बाहर हो जायगा।"

यह संवाद आगे बढ़ता है—

"अमीचन्द— ... मुसलमानों की और अंग्रेजों की समता नहीं हो सकती।

"चन्द्रविलास—क्यों ? वे भी विदेशी थे, ये भी विदेशी हैं।

"अमीचन्द—पर वे इस देश को लूटने के लिए आये थे और अंग्रेज लोग उद्योग-व्यापार द्वारा इसे धनवान बनाने और इसकी रक्षा करने आये हैं। मुसलमानों ने यहाँ की मूर्तियाँ तोड़ीं, तीर्थों को भ्रष्ट किया, जज़िया कर लगाया, बहू-बेटियों का सतीत्व नष्ट

किया, और क्या नहीं किया? अंग्रेज़ इतनी सभ्य और न्याय-परायण जाति है कि भूल से भी उसके द्वारा ये अनर्थ नहीं हो सकते।

"चन्द्रविलास—ये अनर्थ न सही, इन्हीं के भाई दूसरे अनर्थ होंगे। यदि मुसलमानों ने पाशविक अत्याचार किये हैं तो अंग्रेज़ों के सभ्यता पूर्ण अत्याचारों कीभी एक सूची बनेगी। फिर मुसलमानों के अत्याचारों से तो लड़ने का बल हमारी आत्मा और हृदय में बना रहा, परन्तु यह ऐसी जाति जान पड़ती है कि इसके अत्याचार गुप्त रूप से, बिना हमारे जाने ही, हमारे हृदय और हमारी आत्मा पर होंगे। मुझे तो यह भासता है भाई साहब, कि यदि इस जाति का इस देश पर अधिकार हुआ तो इस देश में भीतर ही भीतर ऐसा घुन जम जायगा कि भारतवर्ष की यह वीर जाति कायर हो जायगी।"

धर्मनिष्ठ रायदुर्लभ को, बंगाल में इस समय जो कुछ हो रहा है, सभी धर्मानुकूल दिखायी देता है।

"रायदुर्लभ—ठीक। और पंडित जी! यह सब धर्मानुसार हो भी रहा है? ..... धर्मानुसार ही नवाब ने अंग्रेज़ों के किले का काम बन्द करने के लिये आज्ञा भेजी, क्योंकि वह अपनी सत्ता सुरक्षित चाहता है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदर्लभ—धर्मानसार ही डेक ने उसका अपमान किया,

क्योंकि उसका उद्देश्य नवाब से झगड़ा ठान ब्रिटिश राज्य की नींव जमाना है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—इस पर धर्मानुसार नवाब ने उनकी कासिम बाज़ार की कोठी छीनकर कलकत्ते पर चढ़ाई करने का विचार किया, क्योंकि यह उसकी सहनशक्ति के बाहर की बात थी।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—मीरजाफर ने भी धर्मानुसार ही नवाब को चढ़ाई करने की सम्मति दी, क्योंकि वह स्वयं नवाब होना चाहता है और सिराजुद्दौला को पराजित किये बिना उसका नवाब होना सम्भव नहीं है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—धर्म के विरुद्ध तो किसी का भी आचरण नहीं है पंडित जी!

"कैलाशनाथ—नहीं श्रीमान्।

"रायदुर्लभ—मैं भी अपना धर्म निबाह रहा हूँ। तटस्थ बैठे हुए इस सबका निरीक्षण करते रहने और समय पर सम्मतियाँ दे देकर इस अन्याय पूर्ण राज्य का अन्त करना मेरा धर्म है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—अब तक जो कुछ हुआ है उसमें कहीं और किसी का भी धर्म-भंग दृष्टिगोचर नहीं होता पंडित जी। और

ऐसे तो हर बातों में दोष निकल सकता है, भगवान ही कहते हैं—'सर्वारंभाहि दोषेण धूमेनाग्निः इवावृताः'। नारायण, नारायण।"

पलासी के युद्ध में अंग्रेज़ों की जीत के बाद एक खण्डहर में खड़े हुए चन्द्रविलास और रोहिणी के संवाद को सुनिए—

"चन्द्रविलास—देखो प्रिये! इस अन्धकार में कहीं न कहीं प्रकाश तो दिखेगा ही। किसी न किसी को आनन्द तो होवेगा ही। अंग्रेज़ों की राज्य स्थापना का आनन्द मनाया जायगा। सिराजुद्दौला की जीत होती तो भी मुर्शिदाबाद में विजयोत्सव होता। और आज भी वहाँ तो विजयोत्सव ही होगा। राजप्रसाद उसी प्रकार सजाया जायगा, राजमार्ग उसी प्रकार सुसज्जित किये जावेंगे, गृह उसी प्रकार सजेंगे। तोरण लगेंगे, बन्दनवार बधेंगे, मंगल कलश रखे जायँगे और चौक पुरेंगे। रात्रि को दीपावलि से दिन सा प्रकाश होगा। वही नाच-रंग होगा, वही राजसभाएँ होंगी और यह सब होगा प्रजा के सहयोग से। अभी भी इस देश में 'कोऊ नृप होय हमें का हानी' की उक्ति पूरी रीति से चरितार्थ हो रही है।

"रोहिणी—यही बात है।

"चन्द्रविलास—देखना है प्रिये! कभी यहाँ वैसा भी अवसर आता है जब प्रजा के अधिकार में राजा का निर्माण हो। सिराजुद्दौला की विजय से भी प्रजा उत्सव करती और अंग्रेज़ों की विजय पर भी उत्सव मनायेगी। देखना है प्रिये, प्रजा में वह ज्ञान, वह स्वाभिमान, वह बाल, वह शक्ति कब उत्पन्न होती

है, जब वह उन्हीं उत्सवों को करे, उन्हीं में आनन्द मनाये, जो देश की प्रतिष्ठा के अनुकूल हों।

"रोहणी—समय पर सब होकर रहेगा प्यारे ! तुम्हारे हृदय में अंकुरित इन सिद्धान्त रूपी पौधों में समय पर फल आये बिना न रहेंगे। जिस भारत ने ईश्वर तक को पहचान लिया था, वह अपने को पहचाने बिना न रह सकेगा, केवल दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है।

"चन्द्रविलास—पर प्रिये ! अभी तो सब कुछ गया, तुम देखोगी कि इस देश की सम्पत्ति से अब योरप की श्री वृद्धि होगी। जो कुछ बचा है वह यहाँ से सात समुद्र पार जायगा। यहाँ दरिद्रता का भीषण ताण्डव होगा। इस भूमि के सन्तति के "त्राहि त्राहि और पाहि पाहि" चीत्कारों से यह समृद्धि शाली रत्न-गर्भा वसुन्धरा, यह पुण्य भूमि, स्मशान तुल्य बन जायगी। दृष्टि कोण बदलते बदलते कहीं नाश का समय न आ जावे। स्वर्ग की ओर लगी हुई आँखों को झुकाते झुकाते, मातृभूमि की ओर लगाते लगाते, कहीं ये आँखें ही नष्ट न हो जावें।

(ऊपर से एक ईंट गिरती है। दोनों शब्द से चौंक पड़ते हैं। चन्द्रविलास ऊपर देखता है फिर नीचे देख उस ईंट को उठा लेता है।)

"चन्द्रविलास—(रुककर) प्रिये ! इस ईंट का पतन मुझे चलने से रोकता सा जान पड़ता है। इस खण्डहर ने हम लोगों को बहुत देर आश्रय दिया है। अब इस ईंट ने गिरकर

क्षण मात्र ही में मेरे हृदय में एकाएक नवीन विचार का श्रोत बहा दिया।

"रोहिणी—कैसा प्राणेश ?

"चन्द्रविलास—किसी समय यह न जाने कितने उद्योग से जोड़ी गई होगी।

"रोहिणी—अवश्य।

"चन्द्रविलास—(बुर्जों झरोखों की ओर संकेत कर) ये सब क्या हैं ?

"रोहिणी—इसी प्रकार की ईंटों के समुदाय।

"चन्द्रविलास—ठीक, आज यद्यपि ये जीर्ण-शीर्ण होकर टूट फूट गये हैं पर किसी समय सारे वंग देश की शिल्प-कला इस खण्डहर के निर्माण में व्यय हुई होगी। हर ईंट को व्यवस्था और प्रबलता से जोड़ा गया होगा। इन झरोखों में पाल और सेनवंश की रानी-महारानियाँ और राजकुमारियाँ अठखेलियाँ करती होंगी। इन बुर्जों पर उन राज्यों के झंडे फहरा फहरा कर आकाश को छूने का प्रयत्न करते होंगे। (नीचे के खुरों को दिखाकर) इन पर से घोड़े, रथ और हाथियों के झुण्ड के झुण्ड जाते आते होंगे। फिर यहाँ न जाने कितने युद्ध हुए होंगे, कितना रक्त बहा होगा। और वह कैसा लोहित रोहिणी; न जाने कितने पीछे न हटने वाले वीरों के हृदयों का, न जाने कितने अपनी प्रियतमाओं की मूर्ति से अंकित हृदयों का।

"रोहिणी—अवश्य।

"चन्द्रविलास—आज उसी स्थान की यह दुर्दशा हुई है। मनुष्य कृति से भगवत कृति कितनी बलवान है, उसका यह स्थान जीता जागता दृष्टान्त है।

"रोहिणी—इसमें सन्देह नहीं।

"चन्द्रविलास—(ईंट को देखकर) यह ईंट साधारण मिट्टी की ईंट नहीं है रोहिणी। इस ईंट पर इस देश के अतीत गौरव का इतिहास लिखा है। और इन ईंटों की बहन यह ईंट इसलिए पृथक हुई है कि इनके बीच का वह चूना निकल गया है, जो दोनों को मिलाकर बलवान बनाये हुये था। इस सारे देश, इस बंगाल की भी, आज ठीक यही दशा है। सम्राट् अकबर द्वारा निर्धारित हिन्दू मुस्लिम ऐक्य रूपी चूने को यदि हिन्दू और मुस्लिम जातियों रूपी ईंटों से औरंगजेब ने पृथक न कर दिया होता तो आज यह सोने का महल खंडहर न दिखाता। यह अंगरेज जाति क्या है? सात समुद्र पार से आयी हुई यह जाति इस विशाल देश में हवा के झोंके के बराबर है। प्रिये! इस ईंट के गिरने से न जाने क्यों मेरे हृदय में यह भाव उठ रहा है कि अब अपना प्रयत्न निष्फल है। मुझे तो यही देख पड़ता है कि भारतवर्ष की दशा एक बार इस खण्डहर के सदृश होकर रहेगी (आँसू भर आते हैं)

"रोहिणी—(ईंट को चन्द्रविलास के हाथ से लेकर फेंकते हुए) तुम तो न जाने कहाँ कहाँ की बातें सोचते हो। तुम स्वयं कहते हो कि प्रयत्न करना मनुष्य का काम है। तब फिर यों

दुखी क्यों होते हो ? हमारा काम प्रयत्न करना ही तो है। तब उसमें कमी क्यों ?

"चन्द्रविलास—(लम्बी साँस लेकर) यह न सोचो प्रिये ! कि मैं प्रयत्न से विमुख होना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि निर्माण और विनाश में ही संसार का सौन्दर्य और उसी में संसार की प्रगति है। यदि विनाश के भय से निर्माण का कार्य बन्द हो जावे तब तो इस संसार का कार्य ही बन्द हो जायगा। प्राण रहते उद्योग अवश्य करूँगा। फल भगवान के हाथ है।"

सिराजुद्दौला के वध पर नाटक के अन्तिम वाक्य चन्द्रविलास ने इस प्रकार कहे हैं—

"चन्द्रविलास—(भर्राये हुए स्वर में) रोहिणी ! रोहिणी ! हाय यह क्या हुआ ? अमीचन्द के विश्वासघात, रायदुर्लभ के विश्वासघात, मीरजाफर के विश्वासघात, और यही समस्त विश्वासघातियों के विश्वासघात का फल है। चाहे औषधि का परिणाम न हो, विष का होकर ही रहता है। हे भगवन् ! अब यह देश !"

सामाजिक नाटक

प्रकाश

प्रकाश सामाजिक नाटक है। इसकी कथा का काल है सन् १९३३। कथा साधारण है, परन्तु साधारण कथा में इस समय का उच्च श्रेणी का भारतीय समाज अत्यधिक सजीवता और स्वाभाविकता से से चित्रित है। मुख्य पात्रों में उनके समुदाय का चित्रण किया गया है जिससे उनका व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण ही नहीं हुआ है, परन्तु उनके समुदायों का भी चित्रण हो गया है। पुरुष पात्रों में राजा अजयसिंह के चरित्र में गिरते हुए जमींदार, दामोदार गुप्ता में चढ़ते हुए पूंजीपति और व्यापारी, आनरेबिल धनपाल में उस काल के मिनिस्टर, पंडित विश्वनाथ में हिन्दूसभा वादी, मौलाना शहीदबख्श में मुस्लिम लीगर, कन्हैयालाल वर्मा में पत्रकार और डाक्टर नेस्टफील्ड में हमें वकील समुदाय देखने को मिलते हैं। स्त्री पात्रों में दामोदरदास की पत्नी में इस समय

की पश्चिमी सभ्यता का अनुयायी और मनोरमा में गान्धीवाद का अनुयायी स्त्री समाज दिखायी देता है। मनोरमा को छोड़कर उपयुक्त शेष सभी पात्र धूर्त और ढोंगी हैं। इस धूर्तता का परदा फाश करता है देहात से शहर में आनेवाला एक युवक प्रकाशचन्द्र। प्रकाशचन्द्र राजा अजयसिंह की परित्यक्ता पत्नी तारा का पुत्र है, परन्तु न तो प्रकाशचन्द्र यह बात जानता है और न अजयसिंह। जब अजयसिंह की ही इस दरख्वास्त पर, कि प्रकाशचन्द्र उनके गांवों में बलवा कराने का यत्न कर रहा है, प्रकाशचन्द्र को सरकार गिरफ्तार करती है, तब अजयसिंह को यह बात मालूम होती है। प्रकाशचन्द्र ही नाटक का नेता है। उसकी मां तारा आदर्श माता है और माता-पुत्र के संवाद में नाटक के दार्शनिक विचारों का खूब ही विकास हुआ है। प्रकाशचन्द्र गिरफ्तार हो जाता है, पर गिरफ्तार होते होते वह इस शहराती समाज के नेताओं को उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर देता है जैसे किसी चिनी मिट्टी के बर्तन की दूकान में कोई सांड़ घुसकर वहां के बर्तनों के टुकड़े टुकड़े कर डाले। इसीलिये अंग्रेजी में इस नाटक का नाम है—"A Bull in a China Shop" नाटक का आरम्भ होता है राजा अजयसिंह द्वारा गवर्नर को दिये गये एक प्रीति-भोज से और अन्त होता है प्रकाशचन्द्र की गिरफ़्तारी से। प्रीति-भोज में ही नाटक के सभी प्रधान पात्रों का परिचय मिल जाता है। नाटक के कुछ

समुदायों का ठीक परिचय उन्हीं के कथोपकथन के कुछ अंशों से हो जायगा—

राजा अजयसिंह अपनी रानी कल्याणी से एक स्थल पर कहते हैं—

"अजयसिंह—मेरा शोक, ऐसा शोक है जिसे वही मनुष्य जान सकता है जो शनैः शनैः अपनी संपत्ति खोता है, उसे बचाने का अच्छे और बुरे सभी मार्गों से प्रयत्न करता है, पर इतने पर भी उन प्रयत्नों में असफल होता है। तुम जानती हो, गत अनेक वर्षों में मैंने पद-पद पर अपने दुर्भाग्य से युद्ध किया है, परन्तु विजय सदा उसी की हुई है। वह शोक, जो इस प्रकार के पराजयों से धीरे-धीरे बढ़ता है, एकाएक होनेवाले शोक से कहीं अधिक कष्टदायक है। एकाएक होनेवाली बर्बादी और धीरे-धीरे होनेवाली बर्बादी में कदाचित उतना ही अन्तर है जितना फेफड़ों की ही दो बीमारियों, निमोनियाँ और थाइसिस में। एकाएक होनेवाली बर्बादी के कारण कष्टमय बड़ी बात कदाचित् सहनीय है, परन्तु धीरे-धीरे होनेवाली बर्बादी के कारण छोटी-छोटी कष्टमय बातें नहीं। किसी उच्च स्थान से शनैः शनैः मेरा पतन हो रहा है, इस विचार से अधिक कष्ट देनेवाला कदाचित और कोई विचार नहीं है।

"कल्याणी—और महाराज, यदि हम लोग इस सब बचे हुए ऐश्वर्य को छोड़कर वानप्रस्थ ले लें तो ?

"अजयसिंह—(हाथ मलते हुए) कल्याणी, कैसी बात

कहती हो। मैं बिना ऐश्वर्य के जीवित रहने की कल्पना ही नहीं कर सकता।

"कल्याणी—परन्तु इस ऐश्वर्य से आपको किस सुख की प्राप्ति हो रही है ?

"अजयसिंह—कल्याणी तुम समझती हो, मैंने उस दिन भी तुमसे कहा था, आज भी कहता हूँ।

"कल्याणी—कैसे, महाराज ?

"अजयसिंह—मैं तुम्हें समझा नहीं सकता, स्वयं समझ सकता हूँ। मेरे भीतर न जाने कौनसी वस्तु, कौन सी शक्ति, इस सारे ऐश्वर्य को स्थिर रख सकने के लिए मेरे शरीर, मेरे हाथों, मेरे सारे अवयवों से सब प्रकार के कार्य, कल के सदृश करा रही है।"

दामोदरदास और धनपाल के कथोपकथन के एक अंश से दोनों के राजनैतिक सिद्धान्तों का पता लग जाता है।

"दामोदरदास—(मुँह बिचकाकर) ओह ! डोन्ट टाक ऑफ़ पोलेटिकल लीडर्स, मिस नेस्टफील्ड, उनमें क्या रखा है। गांधी का नॉन-को-ऑपरेशन और सिबिल-डिस ओबिडियन्स से कभी कुछ होने वाला है ? (खाली कर गिलास टेबिल पर रख देता है)

"धनपाल—(सिर हिलाते और पीते हुए) देअर आई डोन्ट एग्री, मिस्टर गुप्ता। जब इस देश में कुछ होगा, तब (ग्लास टेबिल पर रखते हुए) हमारी एवोल्यूशन और कॉस्टीट्यूशनल थियोरी से ही।

"दामोदरदास—उसी थियोरी से न, जिसके पास प्रेयर, पिटीशन, और प्रोटेस्ट केवल ये तीन शस्त्र हैं? राम-राम कीजिये। अर्जी जनाब, यदि एक ओर गांधी का डाइरेक्ट एक्शन फेल हुआ है, तो दूसरी ओर आपका कॉन्स्टीट्यूशनलिज्म भी गड़ चुका है। जब भी इस देश में कुछ होगा तब हम फाइनेन्सर्स से। अंगरेज लोगों से आप आर्थिक कुंजी अपने हाथ में ले लीजिये, कि आप-से-आप इस देश से ये चले जायँगे। विलायती कम्पनियों के हाथ से व्यापार छीन लीजिये, बस समाप्त; स्वराज्य मिल गया।"

दामोदरदास के सिद्धान्तों का और भी विकास तथा व्यवहार का ज्ञान उसके और उसकी पत्नी के सम्भाषण से होता है—

"दामोदरदास—देखो, संसार के इतिहास में आज तक धनी-निर्धन, पठित-अपठित सदा रहे हैं। धनी-वर्ग ने निर्धनों पर राज्य किया है और पठित समाज ने अपठितों पर। समानता का सिद्धान्त ही ठीक नहीं है। ... ...

"रुक्मिणी—परन्तु, तुम भी तो मनुष्यों की समता के लिए कौंसिल में भाषण दिया करते हो।

"दामोदरदास—यह दूसरी बात है, डियर, तुम समझती हो कि मैं जो कुछ भाषणों में कहता हूँ उस पर विश्वास करता हूँ? जनता को प्रसन्न करने के लिए गरीबों के हित के लम्बे लम्बे भाषण देना आवश्यक हो जाता है, नहीं तो दूसरे चुनाव में सफल होना मुश्किल हो जावे। ... ... जनता के नाम पर

कुछ व्यक्तियों का लाभ, यह सदा से होता आया है और भविष्य में भी सदा यही होता रहेगा। जो लोग इसका सच्चा रहस्य नहीं समझते और 'जनता-जनता' सच्चे हृदय से चिल्लाते हैं, वे मूर्ख हैं। ..... विश्वनाथ और शहीदबख्श उस प्रकाश के सदृश मूर्ख थोड़े ही है; दोनों बड़े घुटे हुए हैं। हिन्दू-हित और मुस्लिम-हित की डींगें अवश्य मारते हैं, पर म्युनिस्पैलटी में कैसे मिल-जुलकर काम करते हैं।

"रुक्मिणी—म्युनिस्पैलटी में इनका कुछ स्वार्थ होगा?

"दामोदरदास—खाने को मिलता है। और यदि आपस में लड़ें तो यह न मिले। मिलकर ही खाना हो सकता है। ..... फिर अधिकतर मेम्बर और वैतनिक कर्मचारी मिले रहते हैं और इस प्रकार दोनों को खाने को मिल जाता है। साधारण साधारण लोग म्युनिस्पैलटी के चुनाव में जो इतना खर्च कर देते हैं, वे खर्च नहीं करते, पूँजी लगाते हैं। ....

"रुक्मिणी—और कौंसिल के चुनाव में जो इतना खर्च होता है सो?

"दामोदरदास—वह और बड़े स्वार्थ के लिए। कोई मिनिस्टर होना चाहते हैं, किसी को सरकारी बड़े-बड़े ठेके और काम मिल जाते हैं और इन ठेकों में मिनिस्टर भी सम्मिलित रहते हैं। ..... बात यह है कि अधिक के आधार पर थोड़ों की विशिष्टता यही निसर्ग सदा करती रही है और करती रहेगी। जड़ और चेतन दोनों प्रकार की सृष्टि में हमें यही बात

दिखायी देती है। घास फूस की अधिकता और पुष्प-फलों की कमी, अन्य जीव जन्तुओं की अधिकता और मनुष्य वर्ग की कमी इसी नियम का परिणाम है। प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट उत्पत्ति मनुष्य है और मनुष्यों में सर्वोत्कृष्ट मनुष्य धनवान, क्योंकि धन ही मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ बना सकता है। धन थोड़े ही व्यक्तियों के पास अधिक परिणाम में रह सकता है, अतः जिस प्रकार अन्य समस्त सृष्टि थोड़े से मनुष्य-समुदाय के उपयोग के लिए है, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्य थोड़े-से मनुष्यों के उपयोग के लिए हैं, और इस प्रकार थोड़े मनुष्यों के सुख के लिये अधिक का दुःखी रहना, प्रकृति का स्वाभाविक नियम सिद्ध हो जाता है। ... ... यदि बुद्धिमानों के एक रुपये में चार आने मूर्खों को मिल जायँ, तो क्या कम है? हम सुशिक्षित लोग मूर्खों पर इससे अधिक और क्या दया दिखा सकते हैं?

"रुक्मिणी—हाँ, दया का गुण ही है कि देनेवाले और पानेवाले दोनों को ही इससे लाभ होता है। फिर हम दान भी भी तो देते हैं।

"दामोदरदास—ठीक कहा, पर, हाँ, दान के सम्बन्ध में भी एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

"रुक्मिणी—वह क्या?

"दामोदरदास—दान ऐसे ही कार्यों में दिया जावे जिससे कीर्ति के कारण सारे देश-विदेश के समाचार-पत्र भर जावें।

"रुक्मिणी—हाँ, कीर्ति के लिए तो दान दिया ही जाता है।

"दामोदरदास—नहीं, उसमें एकलाभ और है। देश के सभी लीडर्स से जान-पहचान बढ़ती है, अनेक राजनैतिक परिवर्तन पहले मालूम हो जाते हैं और अधिक आमदनी का अवसर मिलता है।

"रुक्मिणी—अधिक दान देने के लिए भी तो इसकी आवश्यकता है। क्योंकि दस रुपयों का लाभ न किया जाय तो एक रुपया दान कैसे किया जा सकता है?

"दामोदरदास—वाह! वाह! क्या समझ की बात कही है।"

अब डाक्टर नेस्टफील्ड और वर्तमान कानूनी पेशे की हालत नेस्टफील्ड और उसकी भतीजी थेरिजा के कथोपकथन में देखिए—

"नैस्टफील्ड—तुम जानती ही हो कि आजकल की एडीटोरियल-पेन काली स्याही से न लिखकर चाँदी की सफेदी से लिखती है; जहाँ रुपया दिया कि कुछ भी लिखवा लो या कुछ लिखा जाता हो तो बन्द करा लो। ..... थेरिजा, आज कल भी लीगल प्रोफ़ेसन में इसी तरह की चीजों की आमदनी रह गई है। लिटीगेशन घट गया है, काँपटीशन दिन दूना बढ़ता जाता है। कमीशन पर कमीशन दो, तब कहीं पैसे मिलते हैं, या तब मिलते हैं जब कि यह जाहिर कराया जाय कि मेरी फलां मजिस्ट्रेट या जजसे दोस्ती है। ..... आमदनी तो तभी

होती है, जब या तो कोई मोटी मुर्गी फंसे, या दोनों पार्टियां मिलकर खाया जाय, या कोई इसी तरह की दूसरी साजिश की जाय। ..... गिरते हुए खानदानों से उनके कई डरों के सबब आमदनी होती है और बढ़ते हुए खानदानों से उनके नये नये कामों के सबब ..... बार-रूम आजकल का सिविलाइज्ड मदकखाना है ..... मदकखानों में सबसे बड़ा मदकखाना। वहाँ का धंधा ही कुर्सी पर बैठे-बैठे या तो सिगरेट और सिगार पीते हुए, या ताश खेलते हुए, दुनिया भर का क्रिटीसिज्म और हरएक की बुराई करना है .....

"थेरिज़ा—हाँ, सिर्फ आरगूमेन्ट ही नहीं, लेकिन इन्फ्लुएंस भी आजकल के इन्साफ़ के पलड़े में वजन डाले बिना नहीं रहता।"

रुक्मिणी और मनोरमा के कथोपकथन से उनके चरित्रों और उनके समुदायों के विचारों का अवलोकन होता है।

"मनोरमा—इस देश में विलायत से अधिक समस्यायें हल करने को हैं, इसे मैं मानती हूँ, परन्तु उस देश में नहीं के बराबर समस्यायें हैं, इसे मैं नहीं मानती। अनेक जटिल समस्याओं के कारण वहाँ का सारा जीवन ही उथल-पुथल हो रहा है।

"रुक्मिणी—दो-चार समस्यायें गिनाओ तो।

"मनोरमा—एक बात के अन्तर्गत ही वहाँ की सारी जटिल समस्यायें आ जाती हैं।

"रुक्मिणी—वह कौन सी बात है?

"मनोरमा—आधिभौतिकवाद को सर्वस्व मान लेना, काल-मार्क्स का साम्यवाद, मुसोलिनी का फासिस्टवाद, और हिटलर का नाजीवाद सब आधिभौतिकवाद की नींव पर स्थित हैं। मनुष्यत्व वहाँ रह ही नहीं गया, हर बात की तौल सिक्कों के अनुमान पर होती है। जिस पुरुष और स्त्री-समाज के स्वातन्त्र्य की तुम इतनी प्रशंसा कर रही हो, उस स्वातंत्र्य ने ऐसा भयानक रूप धारण किया है कि सच्चे गार्हस्थ्य सुख का भी वहाँ पता नहीं है।.....

"रुक्मिणी—तो तुम समझती हो कि पश्चिम की सारी बातें बुरी हैं?

"मनोरमा—कौन कहता है? अनेक बातें बहुत अच्छी हैं और अनुकरण करने योग्य हैं। किसी भी समाज की हर बात बुरी नहीं होती।

"रुक्मिणी—फिर कौन अनुकरण करने योग्य है और कौन नहीं, इसका निर्णय क्यों कर किया जाय?

"मनोरमा—(मुस्कराकर) यही निर्णय करना तो सबसे कठिन बात है। एक दृष्टान्त देती हूँ।

"रुक्मिणी—कैसा?

"मनोरमा—आजकल के पढ़े-लिखे पश्चिमी विचारों के भारतीय समझते हैं कि जनता की आवश्यकताएं बढ़ाना सभ्यता की नींव और सभ्यता की ओर बढ़ने की पहली सीढ़ी है।

"रुक्मिणी—अवश्य।

"मनोरमा—मैं समझती हूँ नींव ही ठीक नहीं है, फिर उस पर बना हुआ भवन कैसे ठीक हो सकता है। मेरे मतानुसार तो इस प्रयत्न से यहाँ के समाज में घोर संकट फैलेगा।

"रुक्मिणी—(घृणा से हँस कर) तुम समझती हो कि यहाँ के लोगों को सदा पशुओं के समान रहना चाहिए ?

"मनोरमा—किसे पशुओं के समान रहना कहना चाहिए और किसे देवताओं के समान, यही तो प्रश्न है। आधिभौतिक सुखों की निरन्तर बढ़ती हुई अभिलाषाएं और आध्यात्मिक सुखों का निरंतर ह्रास, क्या यही देवताओं के सदृश रहना है ?

..... मेरा कहना तो केवल यह है कि पश्चिम का अन्ध अनुकरण इन समस्याओं को हल नहीं करेगा। किसी रोग की औषधि उससे भी भयंकर दूसरे रोग का निमन्त्रण नहीं है।"

एक स्थल पर मनोरमा अपनी सखी सुशीला से कहती है—

"मनोरमा—बहन, वे जेल जायंगे। (लम्बी सांस लेकर) सर्व प्रथम तो यही मेरी समझ में नहीं आता कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के जेल भेजने का क्या अधिकार है। फिर यदि समाज की यह एक अनिवार्य बुराई मान ली जाय और चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों आदि के सुधार एवं समाज की रक्षा ऐसे व्यक्तियों को जेल भेजे बिना न हो सकती हो, तो भी प्रकाशचन्द्र जी के सदृश व्यक्तियों के लिये भी जेल ! और इस प्रकार के मनुष्यों को जेल भिजवाएं, मेरे भाई साहब और राजा साहब के सदृश व्यक्ति ! मुझे तो आश्चर्य होता है, बहन,

कि मेरे भाई और राजा साहब आदि के सदृश डाकुओं से भी बड़े डाकू, चोरों से भी बड़े चोर और व्यभिचारियों से भी बड़े व्यभिचारी, समाज में आनन्द से रहते हैं, प्रतिष्ठा के साथ रहते हैं और प्रकाशचन्द्र के सदृश व्यक्ति जेल भेजे जाते हैं।

"सुशीला—ठीक कहती हो, बहन, पर न जाने कैसे संसार में सदा यही होता आ रहा है।

"मनोरमा—तभी तो समाज दुखी है और आश्चर्य की बात यह है कि मेरे भाई साहब-सदृश व्यक्ति भी दानी, त्यागी और दानी, त्यागी ही नहीं दूसरों के दुःख से दुःखी रहने की डींग मारते हैं। दुःखी रहने का दिखावा भी कदाचित् दूसरों पर रोब रखने में सहायक होता है।"

एक अन्य स्थल पर मनोरमा सुशीला से कहती है—

"मनोरमा—मुझे देखना है कि संसार अपने गुलामों से ही अपनी सेवा कराता है, अथवा उससे भी, जो अपने सिद्धान्तों के अनुकूल चलकर संसार की गुलामी तो नहीं करना चाहता, पर संसार की यथार्थ सेवा अवश्य करना चाहता है।"

प्रकाशचन्द्र के सार्वजनिक भाषण और उसके तथा उसकी माँ के संभाषण तो इस नाटक के प्राण हैं। इस प्रकार के सभी स्थल पठनीय और मननीय हैं, इस प्रकार के सभी स्थलों के भी कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं। प्रकाशचन्द्र अजयसिंह के प्रीति भोज में ही एक टेबिल पर से मिठाई इत्यादि को हाथ से हटा एक भाषण दे डालता है। वह कहता है—

"प्रकाशचन्द्र—(बायीं ओर के पुरुषों को देख) परन्तु, प्यारे भाइयो ! अब वह समय चला गया जब ये धनी, ये समाज के भूषण, ये समाज के स्तम्भ हम लोगों को इस प्रकार रख सकें। मुट्ठी भर लोगों की धन की थैली, चाँदी सोने के निर्जीव टुकड़े एवं इने-गिने व्यक्तियों की बुद्धि, तथा विद्या का थोथा घमंड, देश के करोड़ों निर्धनों और अपठितों की मनुष्यता को कुचल रखने में असमर्थ हैं। ..... फिर, महाशयो ! इस धन को उत्पन्न करने वाले कौन हैं ? किसान। परमेश्वर-द्वारा दिये गये निधन और धनवान के समान, शरीर के रक्त को किसान पसीने में बहाता है, उसके भूखे और नंगे रहते हुए उनका उत्पन्न किया हुआ सारा धन (अजयसिंह तथा भगवानदास की ओर संकेत कर) इन धनवानों की तिजारियों में आता है, इन प्रीति-भोजों में बहता है तथा बाहर खड़ी हुई मोटरों में उड़ जाता है। ... ... विदेशी सरकार जिसकी सत्ता इन्हीं धनवानों पर निर्भर है, इन्हें सहायता देती है और इस सहायता के बदले में लोग इस सरकार को सुरक्षित रखने के लिए उचित ही नहीं, सर्वथा अन्याय पूर्ण मार्गों से उसकी सहायता करते हैं। इस प्रकार वस्तुएँ एक विचित्र चक्र में घूम रही हैं, परन्तु प्यारे भाइयो ! इस चक्र-व्यूह का विध्वंश हमारे लिए आवश्यक हो गया है; इसके नाश में ही हमारा उत्थान और इसकी स्थिति में ही हमारा पतन है।"

एक अन्य सार्वजनिक भाषण में प्रकाशचन्द्र कहता है—

"प्रकाशचन्द्र—..... निर्धन लोग कदाचित् सामाजिक संगठन के आवश्यक परिणाम हों और निर्धनता के कारण उन्हें सुख न हो, पर, धनी क्यों सुखी नहीं है ? अपठित दुखी हैं, अविद्या के कारण उनका दुखी रहना भी कदाचित् स्वाभाविक हो, परन्तु पठित, बुद्धिमान, और विद्वान क्यों दुखी हैं ? जिन पर अधिकारों का प्रयोग होता है, वे कदाचित अधिकारों के प्रयोग से पीड़ित होने के कारण सुखी नहीं हैं, और उनका दुःखी रहना भी कदाचित् अनिवार्य समझा जावे, परन्तु जिनके हाथों में, अधिकारों के प्रयोग की सत्ता और शक्ति है; वे क्यों सुखी नहीं हैं ? ..... अनेक भोले-भाले मनुष्य इन धनियों द्वारा लूटे गये हैं। वे मनुष्य इसलिए दुःखी हैं कि उन्हें लूटा गया है, परन्तु ये धनी भी तो सुखी रहते ? आश्चर्य तो यह है कि ये भी दुःखी हैं। किसलिए दुखी हैं, जानते हैं ?

"कुछ व्यक्ति—आप बतलाइये, आप बतलाइये।

"प्रकाशचन्द्र—इसीलिए दुःखी हैं कि इस लूट को चलाने के लिए उन्हें अपनी सत्ता स्थापित रखने को नित्य नये षड्यंत्र रचने पड़ते हैं। उनके हृदय इन षड्यंत्रों से व्याप्त रहते हैं। सारा जन्म, और सारा जन्म ही क्या, उनकी पीढ़ियों की पीढ़ियें यही करते करते बीतती हैं, अतः उन्हें भी सत्य-सुख का अनुभव नहीं हो पाता। निर्धन शरीर के लिए आवश्यक वस्तुओं के लुट जाने से दुखी हैं, तो लुटेरे मानसिक शांति के जाने से क्लेशित हैं।... ... ... जिन सिद्धान्तों के अनुसार

एक ही स्थान पर रहने वाले लोग, छोटी-छोटी सी बात पर, एक दूसरे से सदा लड़ने को तैयार रहें, एक दूसरे के सिर फोड़ें, वे सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हो सकते हैं? हिन्दू जानते हैं कि इस देश में रहनेवाले सब मुसलमान हिन्दू नहीं हो सकते। मुसलमान जानते हैं कि इस देश में रहनेवाले सारे हिन्दू इस्लाम-धर्म ग्रहण नहीं कर सकते। दोनों जानते हैं कि दोनों को एक दूसरे के पड़ोसी बनकर ही रहना है। पर, इतने पर भी लड़ते हैं, और लड़ते हैं धर्म के नाम पर; उस धर्म के नाम पर जिसका कार्य शान्ति, सुख और भ्रातृ-भाव की स्थापना है। ..... इन्हें लड़ाते हैं विदेशी स्वार्थी और इन दोनों समाजों के स्वयंभू नेता। सज्जनों! इन नेताओं का नेतृत्व तभी तक है जब तक इन समाजों में झगड़ा है। मुझे आपके नगर के हिन्दू-मुस्लिम नेता पंडित विश्वनाथ और मौलाना शहीदबख्श के मुखों पर, उन्हें उस नेतापन के संभालने की कितनी चिन्ता रहती है, यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ... महाशयो! हिन्दू-मुस्लिम जनता तो लड़ती है, परन्तु ये नेता आपस में क्यों नहीं लड़ते? इनमें से किसी ने आज तक एक-दूसरे का सिर फोड़ा? ..... ऐसे हैं जैसे सड़ी हुई लकड़ी होती है। जिस प्रकार उस लकड़ी पर कोई खुदाव का काम नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ये नहीं सुधारे जा सकते। सिद्धान्तों के लिए संसार नहीं है, संसार के लिए सिद्धान्त हैं। यदि वर्तमान स्वीकृत वैज्ञानिक कहे जानेवाले इन सिद्धान्तों से

संसार में सत्य-सुख की स्थापना सम्भव नहीं है, तो इन सिद्धान्तों का मूलोच्छेदन कर डालना ही हमारा कर्तव्य है। और यह कार्य किसी पुराने गृह के निर्बल विभागों को गिराने के सदृश है। जिस प्रकार उसका एक भाग गिराते समय यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि उससे लगा दृढ़ दिखनेवाला विभाग उस निर्बल विभाग के गिराने के पश्चात् स्थिर रह सकेगा, या नहीं उसी प्रकार इन वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों में एक के उखाड़ने पर दूसरे के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका क्या होगी ?

प्रकाशचन्द्र बाह्य प्रशंसा का इच्छुक नहीं है, यह उसके निम्नलिखित कथन से जान पड़ता है—

"प्रकाशचन्द्र—पर, माँ, कर्तव्य का पथ तो, तू ही कहती थी; कि, फूलों का न होकर काँटों का होता है। संसार में सभी के लिए यह पथ ऐसा ही रहा है। यह पथ तो दान का ही पथ है, ग्रहण का नहीं।

"तारा—हाँ, मैं ही कहती थी; पर, तू उसी पथ का पथिक होगा, यह मैं कहाँ जानती थी ?

"प्रकाशचन्द्र—ऐसे काँटे वाले पथ का पथिक होने पर भी मुझे एक विचित्र प्रकार का सुख हुआ है, माँ, और उसका कारण है ?

"तारा—क्या ?

"प्रकाशचन्द्र—मेरा जीवन निरुद्देश नहीं रह गया। उद्देश्य-मय जीवन में एक विचित्र प्रकार का सुख होता है, इसका अब मैं अनुभव करने लगा हूँ। फिर मैं यह भी जानने लगा हूँ कि कुछ लोग संसार को प्रसन्न करने के लिए कर्तव्य करते हैं।

"तारा—और तू ?

"प्रकाशचन्द्र—मैं अपने को प्रसन्न करने के लिए करता हूँ। मैं नहीं जानता कि, जिसे मैं अपना कर्तव्य कहता हूँ, उससे संसार प्रसन्न होता है या नहीं, मेरे हृदय को उससे अवश्य प्रसन्नता होती है और फिर प्यारी माँ,... । (रुक जाता है और तारा की ओर एकटक देखने लगता है।)

"तारा—फिर क्या ?

"प्रकाशचन्द्र—फिर ? फिर, माँ, जब इस कर्तव्य को मैं अपने हृदय में प्रतिष्ठित तेरी भव्य मूर्ति को अर्पित करता हूँ तब तो मेरे आनन्द की सीमा नहीं रह जाती।

"तारा—बेटा, प्यारे बेटा।

"प्रकाशचन्द्र—(माँ की ओर देखते हुए कुछ ठहरकर) क्यों, माँ, तुझे मेरे इस आदर, इस जय-जयकार, इन जुलूसों से बड़ा हर्ष होता है ?

"तारा—अवश्य होता है, बेटा; तुझे नहीं होता ?

"प्रकाशचन्द्र—(लम्बी साँस लेकर) यदि इन सब में सत्यता होती, उच्च हृदय के सच्चे भावों का समावेश होता; तो अवश्य होता।

"तारा—(आश्चर्य से) ये सब सच्चे नहीं हैं ?

"प्रकाशचन्द्र—जितने होते हुए तू देखती है, उतने सच्चे नहीं हैं।

"तारा—यह कैसे ?

"प्रकाशचन्द्र—कुछ लोग तो, इसमें सन्देह नहीं कि, मेरा सच्चे हृदय से आदर, हृदय के सच्चे आवेग से जय-जयकार करते हैं, परन्तु उन्हीं आदर करनेवालों, उन्हीं जय-जयकार बोलनेवालों में अनेक ऐसे कलुषित हृदय के लोग भी हैं, जो मन में मुझसे घृणा करते हैं, मन में मुझसे ईर्षा रखते हैं, मन में बढ़ते हुए प्रभाव को देख कर जलते हैं और मेरा विनाश तक कर डालना चाहते हैं, परन्तु ऊपर से विवश होकर उन्हें मेरा आदर करना पड़ता है, मेरी पराजय चाहने पर भी, उच्च स्वर से मेरा जय-घोष बोलना पड़ता है।

"तारा—अच्छा !

"प्रकाशचन्द्र—इनसे तेरा काम न पड़ने के कारण तुझे इनका अनुभव नहीं हो सकता, माँ, पर मैं ऐसे लोगों को मुखों से पहचान सकता हूँ। फिर, कई ऐसे हैं जो मेरे कार्यों को लेशमात्र नहीं समझते, परन्तु सबके साथ मिल मेरे आदर और जय-घोष में सम्मिलित हो जाते हैं।

"तारा—और सच्चे कितने होंगे, बेटा ?

"प्रकाशचन्द्र—बहुत, कम, परन्तु, माँ, इस आदर और जय-घोष से चाहे हृदय में क्षणिक उत्साह भर जाय, चाहे हृदय

को क्षणिक आनन्द मिल जाय, पर यथार्थ में ये सच्चे और स्थायी आनन्द देने की वस्तु ही नहीं हैं। अब मुझे अनुभव होने लगा है, माँ, कि सच्चा आनन्द बाहर के आदर और जय-घोष से प्राप्त नहीं होता, उसकी उत्पत्ति तो भीतर से होती है। जब मैं अपने किसी भी कर्तव्य को, सचाई से, निस्वार्थ भाव से, पालन करता हूँ, और उस पालन को, अन्तःकरण के भीतर प्रतिष्ठित तेरी उदासीन तथा सकरुण प्रतिमा के चरणों में·····। (**चुप होकर तारा की ओर एकटक देखने लगता है।**)

"तारा—हाँ, चरणों में क्या? चुप क्यों हो गया?

"प्रकाशचन्द्र—चरणों में भेंट करता हूँ, माँ, प्यारी माँ, उस समय जिस सच्चे आनन्द की मुझे प्राप्ति होती है, वह वर्णनातीत है।"

अपनी मां से प्रकाशचन्द्र क्या चाहता है यह उसके और उसकी माँ के निम्नलिखित संवाद से मालूम होता है।

"प्रकाशचन्द्र—आकाश में स्थित उषा की द्युति, दिन के प्रकाश, सन्ध्या की प्रभा, रात्रि के अंधकार, सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, दामिनी इन्द्र-धनुष में; पृथ्वी पर स्थित पर्वतों, नदियों, वनों, उपवनों, वृक्षों, पल्लवों, पुष्पों, फलों, गृहों, मार्गों में; नभचरों, जलचरों, थलचरों में; अपने स्वयं के गृह और उसकी वस्तुओं में; तू अपने प्रकाश, प्यारे प्रकाश को देखना। माँ, प्यारी माँ, यदि तू प्रयत्न करेगी तो तुझे तेरा प्रकाश सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा, अवश्य होगा।"

उसकी मां की मानसिक स्थिति का पता उसके निम्नलिखित कथन से लगता है—

"तारा—बेटा, जब तू मेरे भीतर था, तब तुझे भीतर देखती थी; जब तुझे बाहर निकाल दिया तब तुझे बाहर देखती हूँ। तू मुझे अब अपने भीतर नहीं दिखता। तू अपने हृदय का अनुभव कर सकता है, मेरे हृदय का नहीं ... जिस दिन से तूने मेरे उदर में प्रवेश किया, उसी दिन मेरे बाहरी दुःखों का आरम्भ हुआ। ... मैं भी महलों में रहती थी, उत्तमोत्तम पदार्थ खाती और उत्तमोत्तम कपड़े पहनती थी; सब छुट गये। परन्तु, उस समय अपने भीतर एक प्रकार के विलक्षण आनन्द का अनुभव हुआ।

"प्रकाशचन्द—वह क्या ?

"तारा—अपने भीतर तुझे देखना। अनेक विचार, अनेक कल्पनाएँ, अनेक संकल्प-विकल्प मेरे हृदय में तरंगों के सदृश उठते और विलीन हो जाते थे। उन तरंगों पर तेरी काल्पनिक मनोहर मूर्ति नृत्य करती थी। (चुप होकर प्रकाशचन्द्र की ओर देखने लगती है)

"प्रकाशचन्द्र—अच्छा, आगे ?

"तारा—कुछ समय पश्चात् जब तू पेट में फड़कने लगा, तब तेरे साथ मेरे हृदय के भाव भी फड़कने लगे, और जब तूने पेट में घूमना आरम्भ किया, तब मुझे जान पड़ता था कि सारा विश्व मेरे पेट में घूम रहा है।

"प्रकाशचन्द्र—ओह !

"तारा—प्रसव की पीड़ाओं में मुझे स्वर्ग सुख का अनुभव हुआ, और जब तू बाहर आया, तब मेरे भीतर का सारा विश्व, तेरे संग ही, बाहर आगया।

"प्रकाशचन्द्र—तो तब से तू मुझे भीतर न देख सकी ?

"तारा—कैसे देखती ? तुझे बाहर निकाल, बाहर देखने लगी, और उस दर्शन में अपूर्व सुख पाने। तेरे कभी मुस्कराते और कभी रोते हुए मुख-कमल में मेरे संसार का सारा सौन्दर्य छिपा था और तेरे हिलते हुए हाथ पैरों में संसार की सारी हलचलें। जब तू दूध पीता, तब मुझे अनुभव होता कि मैं अपने शरीर से सारे संसारका भरण-पोषण कर रही हूँ और तुझे कपड़ा पहनाने में अनुभव होता कि सारे विश्व को वस्त्र दे रही हूँ। जब तू खाने योग्य हुआ और जब से मैंने तुझे भोजन कराना आरम्भ किया, तब से मुझे अपने में अन्नपूर्णा देवी का अंश प्रतीत होने लगा। जब तू पढ़ने योग्य हुआ और मैंने ही तुझे शिक्षा दी, तब से मुझे भासता है कि सरस्वती का भी मुझमें समावेश है। पर, बेटा, इस महान् सुख में एक दुःख भी था और वह बहुत बड़ा।

"प्रकाशचन्द्र—कैसा दुःख, माँ ?

"तारा—जब कभी तू बीमार होता, तब तेरी छोटी-सी बीमारी में भी मुझे यही ज्ञात होता कि कहीं मेरे सोने का संसार

विनिष्ट न हो जाय। उस समय के मेरे दुःख का वर्णन ही नहीं हो सकता।

[तारा चुप हो जाती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है]

"प्रकाशचन्द्र—तो इस प्रकार मेरे जन्म के पश्चात् से ही तू मुझे बाहर ही देखती है ?

"तारा—हाँ, बेटा। फिर मेरा जगत, मेरा संसार, मेरा विश्व, बहुत विस्तीर्ण नहीं है, संकुचित अत्यन्त संकुचित है और वह तू है, बेटा तू। जब तक तू मेरे भीतर था, तब तक मेरा संसार मेरे भीतर था, और जब से तू बाहर आया, तब से मेरा संसार मेरे बाहर आ गया। तुझे बाहर कर, बाइस वर्ष तक अपने संसार को बाहर देख, जैसा तू है, वैसा तुझे बना, अब मैं अपने भीतर तुझे कैसे देखूँ, यह तू ही बता, बेटा ?"

ईर्षा

'ईर्षा' भी गोविन्ददास जी का सामाजिक नाटक है। इस नाटक का समय है सन् १९२१। नाटक की कथा में एक परम सुखी कुटुम्ब के ईर्षा के कारण दारुण दुःखी होना बताया गया है। इस कुटुम्ब का नेता यशपाल साधारण कोटि का एक वकील है। उसकी पत्नी सुखदा सुख की खान है। उसका रूप, उसके गुण और उसका भावुक स्वभाव इस कुटुम्ब को स्वर्गीय सुख का अनुभव करा रहे हैं। यशपाल के एक पुत्र और एक पुत्री के कारण यह सुख कई गुना बढ़ गया है। किसी समय यशपाल निर्धन

था। उसे ब्रह्मदत्त वकील ने छात्र वृति देकर शिक्षित किया था। अनेक बार अपने प्रति उपकार करने वाले के प्रति सब से अधिक ईर्षा की उत्पत्ति होती है। अतः यशपाल के हृदय में ब्रह्मदत्त के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उसके प्रति ईर्षा का प्रादुर्भाव होता है। ब्रह्मदत्त प्रान्तीय कौंसिल के लिए खड़ा होता है और यशपाल ब्रह्मदत्त को गिराने के लिए असहयोग आन्दोलन में सम्मलित हो उसके विरोध में एक मोची को खड़ा करता है। ब्रह्मदत्त हार जाता है, पर इस सारे कार्य में यशपाल को इस प्रकार के अनेक दुष्कर्म करने पड़ते हैं जो गान्धीवाद का सच्चा अनुयायी नहीं कर सकता। यशपाल का भी यथार्थ रूप जनता जान लेती है और उसका सार्वजनिक जीवन आरम्भ में ही नष्ट हो जाता है, इतना ही नहीं, पर उसके सुखी कौटुम्बिक जीवन की भी इस ईर्षा-यज्ञ में आहुति हो जाती है।

इस नाटक के भी कुछ उद्धरणों को देखिये—

नाटक के आरम्भ में यशपाल और उसकी पत्नी सुखदा के संभाषण का कुछ अंश दिया जाता है—

"यशपाल—प्रिये, सच तो यह है कि इस बदजात् ब्रह्मदत्त की इस बढ़ती हुई अवस्था को देखकर ही मुझे अपना जीवन भार स्वरूप हो गया है। जब तक उसकी सारी प्रतिष्ठा और कीर्ति मिट्टी में न मिल जायगी तब तक मुझे शान्ति नहीं मिल सकती।

"सुखदा—(चौंककर) प्यारे, आज तुम कैसी बातें कर रहे

हो ? किसी दूसरे की प्रतिष्ठा और कीर्ति को मिट्टी में मिलाये बिना तुम्हें शान्ति न मिलेगी ? किसी के उपकार से शान्ति मिलती है, या अपकार से ?

"यशपाल—दुःखी और सन्तप्तों के उपकार से शान्ति मिलती है और इस प्रकार के दुष्टों के अपकार से।

"सुखदा—मैंने तो अबतक बिना किसी प्रकार के भेदभाव के उपकार ही को शान्ति का मार्ग समझा था। संसार में जिनका अपकार होना चाहिए उनका भगवान कर देते हैं। मनुष्य को न्यायाधीश बनने का कोई अधिकार नहीं है।

"यशपाल—(घृणा से मुसकरा कर) प्रिये, तुम घर के बाहर तो निकलीं पर फिर भी बाहर को समझी नहीं। किसी की दो मीठी बातें सुनते ही उसे संसार में सब से भला मनुष्य समझने लगती हो, किसी के दो करुण शब्द सुनते ही उसे सब से बड़ा दुःखी मान लेती हो और उसका दुःख निवारण करने के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो जाती हो। तुम नहीं जानतीं कि यह संसार कैसे लुच्चों और धूर्तों से भरा हुआ है। यह रंगभूमि नहीं रणभूमि है। (सुखदा कांप उठती है, उसका कांपना देखकर) मैं जानता हूँ, तुम्हें ऐसी बातों के सुनने मात्र से बड़ा कष्ट होता है, क्योंकि तुम्हारा हृदय अत्यन्त कोमल है। इसीलिए मैं तुम्हारे सामने कभी ऐसी बातों की चर्चा ही नहीं करता, पर आज अवसर आ ही गया, क्योंकि आज मैं एक बहुत बड़े कार्य करने की बात सोच रहा हूँ।

"सुखदा—कैसा ?

"यशपाल—यदि मैं असहयोगी होकर वकालत छोड़ दूँ तो एक ही छलांग में ब्रह्मदत्त से कहीं आगे बढ़ जाऊँगा, क्योंकि वह कभी वकालत न छोड़ेंगे, इसका मुझे विश्वास है।

"सुखदा—(चौंककर) असहयोगी, यदि तुम देश की सच्ची भलाई के लिए होते तो मैं समझ सकती थी, परन्तु ब्रह्मदत्त जी को नीचे गिराने के लिये असहयोगी होना तो मेरी समझ में नहीं आता।

"यशपाल—मैंने कहा न कि तुम संसार को समझती ही नहीं, जिसे ऊंचा चढ़ना होता है उसे अन्यों के सिर काट उन मुंडों की सीढ़ी बना उस पर से चढ़ना पड़ता है।

"सुखदा—(फिर चौंककर) यदि ऊपर चढ़ने के लिये और कोई मार्ग नहीं है तो नीचे ही रहना अच्छा है।"

अपने पति की इन भावनाओं के कारण सुखदा अपने घर के सुख को अब क्षणिक मानने लगी है। नगर के एक वैद्य गरीब दास को वह अपना गुरु मानती है। उसका और गरीबदास का संवाद सुनिए—

"गरीबदास—बेटी सुखदा, ये तुम्हारे दोनों बच्चे क्या हैं, श्वेत और गुलाबी कमल के सुन्दर मिश्रण हैं। तुम्हारे संग इन इन बच्चों का खेल क्या था, ज्योत्सना के संग कमल कुसुमों का खेल था। सुखदा, तुम्हारे सुखी गृह को स्वर्ग की ही उपमा दी जा सकती है।

"सुखदा—(लम्बी साँस लेकर आँसू भर) परन्तु, गुरुदेव, अब यह सुख बहुत दिनों का नहीं है।

"गरीबदास— (चौंककर सुखदा के मुख की ओर देखते हुए) यह कैसे ? हैं ! तुम्हारे नेत्रों में तो आँसू भरे हुए हैं ! क्या बात है, सुखदा ?

"सुखदा—आपने मुझसे एक दिन कहा था न, कि जिस स्थान पर किसी के अपकार का चिन्तन किया जाता है, वहाँ का समस्त सुख नष्ट हो जाता है।

"गरीबदास—हाँ, वहाँ के सुखमें गेहूँ के सदृश घुन लग जाता है। कपूर के समान वहाँ का सुख धीरे धीरे उड़ जाता है। यह इसलिए मैं नहीं कहता कि ऐसी परिस्थिति में कोई दैवी शक्ति से उस सुख का संहार होता है, परन्तु जो अन्य के अपकार का चिन्तन करता है उसकी स्वयं की कृतियों का ही यह परिणाम निकलता है। अतः में यदि यह कहूँ तो और अधिक उपयुक्त होगा कि सुख रूपी हरे भरे विपिन के लिये यह चिन्तन, दव की चिनगारी के समान है जो भीषण कृतियों रूपी वायु से प्रज्वलित हो उस सुख विपिन को नष्ट कर देती है।"

यशपाल असहयोग की दीक्षा लेता है। इस दीक्षा पर यशपाल और गरीबदास का संवाद होता है—

"गरीबदास—यशपाल जी, आपने अपने हृदय को अच्छी प्रकार टटोल तो लिया है न ? आपके इस देश-सेवा-व्रत में परमार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई भाव तो विद्यमान नहीं है ?

"यशपाल—(कुछ रूखे होकर) कैसा अन्य भाव ?

"गरीबदास—अनेक बार मनुष्य अपना व्यक्तिगत महत्व बढ़ाने और दूसरों को नीचा दिखाने अथवा भविष्य में किसी भारी लाभ करने की इच्छा से क्षणिक त्यागकर देश-सेवा का व्रत ग्रहण करते हैं। ऐसे लोगों की देश-सेवा, देश-सेवा नहीं, अहमन्यता और व्यापार है। न उन्हें इससे सुख प्राप्त होता है, और न जिनकी वे सेवा करते हैं, उन्हीं को कोई लाभ पहुँचता है। ..... कितनों का उपकार किया जाता है, इस संख्या से परमार्थ नहीं तौला जा सकता। वह तो परमार्थ करने वाले के भावों के काँटे पर तौलने की वस्तु है।"

यशपाल के असहयोगी होने पर उसका घर कलह का क्षेत्र हो जाता है। सुखदा उसके सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में कहती है—

"सुखदा—यदि अन्तः करण शुद्ध है, तो चरित्र शुद्ध होगा। चरित्र शुद्ध होगा तो स्वयं को सुख मिलेगा और प्रशंसा छाया-वत पीछे पीछे चलेगी। यदि अन्तःकरण और चरित्र शुद्ध नहीं है तो कभी सुख न मिलेगा और चाहे क्षणिक प्रशंसा हो जाय पर वह स्थायी नहीं रहेगी।"

जब यह कलह बहुत बढ़ता है तब सुखदा इस कलह के निवारण का उपाय सोचती है और इस विषय पर उसका और यशपाल का संवाद होता है—

"सखदा—देखो, प्यारे, जब तक दो व्यक्तियों के भिन्न भिन्न

आदर्श रहते हैं और एक दूसरे के मत को वे शान्ति पूर्वक सहन नहीं करते, तब तक इस प्रकार का कलह होना अनिवार्य रहता है। मैंने इस कलह को मिटाने के लिए अपने जीवन का आदर्श ही तुम्हारे जीवन के आदर्श में समाविष्ट करने का निर्णय कर लिया है। मैं तुमसे पृथक अपना व्यक्तित्व ही न रखूंगी। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। जहाँ तक अपनेपन का भी स्वार्थ है वहाँ..... प्रेम नहीं.....। प्रेम का अन्तिम रूप प्रेमी में अपनेपन को विलीन कर देना है। वही करूँगी प्राणेश। एक हिन्दू पत्नी को जो करना चाहिए वही करूँगी। मुझे ब्रह्मदत्त से क्या प्रयोजन है? और क्या प्रयोजन है कौंसिल से? मुझे तुमसे काम है। यदि तुम रात को दिन कहोगे और दिन को रात तो मैं भी वहीं कहूँगी (नीचा मस्तक कर लेती है)

"यशपाल—(प्रसन्न होकर) प्रिये, तुम मुझपर इतना प्रेम करती हो! इतना प्रेम करती हो! (उठकर सुखदा की कुरसी के निकट जा उसकी ठोढ़ी पकड़ मुख ऊपर उठाता है।)

"सुखदा—(आँसू भरकर) इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें क्या बताऊँ? परन्तु नहीं, यदि पूछते ही ही तो सुनो। प्यारे, आरम्भ से ही तुम्हारा मुख देखते देखते मैं कभी थकित न हुई, तुमसे बातें करते करते मुझे कभी श्रम का अनुभव नहीं हुआ। जब तुम्हारा मुख मेरे सम्मुख आता है, बहरे मनुष्य के समान मेरी दृष्टि तीव्र हो जाती है और जब तुम्हारा शब्द सुनती हूँ तो

अन्धे मनुष्य समान कान। मेरा इस प्रकार एकटक तुम्हारा मुख देखना अन्यों को निरर्थक जान पड़ेगा, तुम्हें भी कदाचित निरर्थक जान पड़े, परन्तु मैं तो समझती हूँ कि प्रेम के स्वर्ग प्रेम में उन्हीं बातों को जिन्हें इस संसार के लोग निरर्थक कहते हैं सबसे अधिक महत्व है। इसी प्रकार मैं तुमसे जो बातें करती हूँ वे भी उस खिलौने के सदृश जिसकी पैंदी में एक भारी सी वस्तु लगी रहती है अन्त में 'प्रेम' शब्द पर लौट आती है, और उनका कोई अन्य साध्य नहीं रहता, परन्तु मैं तो प्रेम को साधन और साध्य दोनों समझती हूँ। जब तुम कहीं बाहर चले जाते हो तब तुम जानते हो कि मैं तुमसे नित्य प्रति पत्र भेजने को कहती हूँ। जब तुम्हारे पत्र मुझे मिलते हैं तब उनके अक्षर मुझे प्रेम की बूंदों के समान दिखायी पड़ते हैं और उनकी पंक्तियाँ प्रेम समुद्र की ओर बढ़ने वाली सरिताएँ। अतः पूरा का पूरा पत्र देखती हूँ तब मुझे प्रेम का सागर दिखायी देता है। प्राणेश, भगवान का पूजन हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ कर्म माना जाता है। भिन्न भिन्न मनुष्य उसे भिन्न भिन्न प्रकार से करते हैं। मैं उसे तुम्हें प्रेम करके करती हूँ। (**आँसू गिरने लगते हैं। यशपाल उसका मुख चूस लेता है।**) प्यारे, अब तो हम दोनों के बीच कभी कलह न होगी। मैं तो उसकी बात सोचकर ही काँपी जाती हूँ।

"यशपाल—(**पुनः उसे चूमकर**) कभी नहीं, प्राणेश्वरी, कभी नहीं। आज मुझे मालूम हुआ कि तुम केवल प्रेम की

ही पवित्र प्रतिमा नहीं हो, किन्तु साथ ही त्याग की भी मूर्तिमन्त मूर्ति हो। तुम्हारा हृदय मुझसे कदाचित् अधिक शुद्ध है, अधिक कोमल है। स्त्रियों का हृदय ही कदाचित् ऐसा रह सकता है। जिन पुरुषों को नित्य प्रति जीवन संग्राम के क्षेत्र का सैनिक रहना पड़ता है उनका हृदय इतना शुद्ध और कोमल रहना कदाचित सम्भव ही नहीं है। फिर प्रेम में यह भी देखा गया है कि दो प्रेमियों में जो निर्बल होता है वही अधिक त्याग भी करता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सबल के हृदय में निर्बल के प्रति कम प्रेम रहता है परन्तु सबल होने के कारण निबल में वह कदाचित् अधिक ग्रहण करने की शक्ति रखता है।"

सुखदा के इस सदा प्रसन्न रहनेवाले मार्ग के सम्बन्ध में एक बार उससे और उसकी बुद्धिमती नौकरानी रामदेई से बातचीत होती है।

"सुखदा—मैंने सदा प्रसन्न रहने का एक मार्ग निकाल दिया है।

"रामदेई—हमेशा खुस रहने का रास्ता! यह तो बड़े ताजुब की बात है। मालकिन, हमेशा तो कोई खुस नहीं रह सकता, पर आप आजकल खुश जरूर रहती हैं। हमेशा खुश रहने का कौनसा रास्ता है, मालकिन?

"सुखदा—दूसरे की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्ननता मानना। मैं आजकल उनकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मानती हूँ।

जो कुछ वे कहते या करते हैं उसका आँख बन्द कर समर्थन करती हूँ। इससे मुझे अब दुःख हो ही नहीं सकता। सदा सुखी रहने का कदाचित इससे अच्छा और कोई मार्ग नहीं है, कि मनुष्य अपना एक इष्ट बनाकर उसके सुख में सुखी रहे। इसीलिए तो, रामदेई, भगवान के भक्तों को कभी दुख नहीं होता। वे सदा ही सुखी और प्रसन्न रहते हैं। हिन्दू पत्नी के लिए पति ही भगवान का स्वरूप है। ....

"रामदेई—... दूसरे के सुख में ही सुख मानना, अपनी कभी कोई परवाह न करना, यह छोटी बात नहीं है। भगवान के भक्तों की दूसरी बात है।

"सुखदा—भगवान् के भक्तों की दूसरी बात कैसे है ?

"रामदेई—इसलिए कि भगवान को किस बात में सुख है, यह भक्तों को थोड़े ही मालूम रहता है। ज्यादा कर के तो भक्तों के मन में जिस बात से सुख होता है उसी से भगवान भी सुखी होते होंगे, यह वे मान लेते हैं, पर मालकिन, किसी दूसरे आदमी के सुख में अपना सुख मानना यह तो बड़ी मुश्किल बात है।

"सुखदा—क्यों ?

"रामदेई—क्योंकि आदमी को आज एक बात में सुख होता है, कल दूसरी में। उसके सुख के साथ अपने मन को भी रोज बदलना पड़ता है, यह तो बड़ी ही मुश्किल बात है। चाहे पति हो, चाहे कोई भी हो, मालकिन, किसी के सुख में अपना सुख मानना ! ओह ! मुश्किल, बड़ी ही मुश्किल बात है।

"सुखदा—पर, रामदेई, भक्त भी के मन को जिससे सुख होता है उसी से भगवान को भी सुख होता होगा यह नहीं मान सकती। तू ने कहा न कि मनुष्य के हृदय के भाव तो निरन्तर बदलते हैं। भक्त को यह मानना ही पड़ता है कि भगवान को अच्छी भावनाओं और अच्छी कृतियों से ही सुख होता है, अतः उनका भी भगवान के सुख में अपना सुख मानना सहज नहीं है।

"रामदेई—अच्छी बातों से भगवान को सुख होता है, इतना तो भक्त के लिए पक्का रहता है न, मालकिन ?

"सुखदा—(कुछ सोचकर) हाँ, इतना तो पक्का रहता है।

"रामदेई—तो भगवान के भक्त को अपना मन ऐसा बनाना पड़ता है जिससे उसे अच्छी बातों में सुख मिले।

"सुखदा—अवश्य।

"रामदेई—और आदमी को तो कभी अच्छी और कभी बुरी दोनों ही तरह की बातों से सुख होता है। इसलिए किसी दूसरे आदमी के सुख में सुख माननेवाले आदमी को कभी अच्छी बात में सुख मानना पड़ता है और कभी बुरी बात में। एक तरह की बात में सुख मानना उतना मुश्किल नहीं है जितना बदलती हुई बातों में। अब आप ही सोचें भगवान के भक्त का काम मुश्किल है या आदमी के भक्त का ?"

भावुक सुखदा की ये भावनाएं सदा नहीं टिक सकतीं। उसके पति के अनेक कृत्यों के कारण उसके कोमल हृदय को ठेस पहुँचती थी। जब अन्त में एक क्रान्तिकारी के गिरफ़्तार कराने के पुरस्कार मिलने की अभिलाषा के कारण यशपाल द्वारा ऐसा कार्य होता है कि उस क्रान्तिकारी के साथ ही गरीबदास भी गिरफ़्तार हो जाते हैं, तब गरीबदास के मुकदमे के समय सुखदा अपने पति को अपने विलीन नहीं रख सकती। वह कचहरी में ही उठ खड़ी हो जाती है और उसके द्वारा ही उसके पति के वाह्य रूप का भण्डा फोड़ होकर उसका यथार्थ रूप जनता के सामने आ जाता है। कचहरी में मुकदमे के पहले सुखदा और यशपाल का निम्नलिखित संवाद होता है—

"सुखदा—प्रतिष्ठा! प्रतिष्ठा! ओह, प्राणेश, तुम्हें प्रतिष्ठा का कितना स्वार्थ हो गया है? ईर्षा से इस प्रतिष्ठा की भावना का आरम्भ हुआ और अब भले बुरे किसी भी प्रकार के उपायों से इसे स्थित रखना तुमने जीवन का ध्येय बना लिया। ..... जब निश्चित नैतिक सिद्धान्तों के पथ से जीवन शकट विचलित होता है तब वह कदाचित् अन्धतम गर्त में गिरे बिना बीच में रुकती नहीं।

"यशपाल—क्यों, प्रिये, तुमने प्रतिज्ञा की थी न कि चाहे मैं कुछ ही क्यों न करूं, तुम मेरी हर बात का समर्थन करोगी। यदि मैं रात को दिन और दिन को रात कहूँगा तो तुम भी वही

कहोंगी। अपना व्यक्तित्व पूर्ण रूप से मुझ में विलीन कर दोगी।

"सुखदा—(चौंक कर) की थी, प्राणेश, की थी। मुझे क्षमा करो। मैं इस कचहरी को देखकर और यह सोचकर कि हम लोगों के अपराध के कारण, इस स्थान पर आज निरपराध गरीबदास जी को दंड होगा, एकाएक उत्तेजित हो उठी थी। उस दिन की बातें और भविष्य की कल्पनाओं में सब कुछ भूल गई थी। सचमुच मैं पागल के समान हो गयी थी। मुझे क्षमा करो, प्यारे, क्षमा करो। (कुछ ठहर कर) और देखो यदि मुझे फिर उत्तेजना हो तो मेरी प्रतिज्ञा का स्मरण करा देना।

"यशपाल—तुम तो सदा अपने स्वप्नों में ही रहना चाहती हो, मानो प्रत्यक्ष संसार से तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

"सुखदा—परन्तु मेरे स्वप्न ही तो मेरा बल है, प्राणेश।

"यशपाल—हो सकता है परन्तु तुम्हारी निर्बलता भी तुम्हारे स्वप्न ही हैं।"

परन्तु ज्योंही मजिस्ट्रेट गरीबदास पर चार्ज लगाता है त्योंही सुखदा फिर से अपनी प्रतिज्ञा भूल जाती है—

"सुखदा—हृदय के इस तूफान के समय बाहर की शान्ति असम्भव है। ओह! हृदय का तूफान क्या, यह तो अन्तरात्मा का भूकम्प है। भूकम्प! (आगे बढ़कर मजिस्ट्रेट से) आप गरीबदास जी पर चार्ज न लगाइये, मजिस्ट्रेट साहब! उनका नहीं मेरा अपराध है। मैं सारी घटना आपको बताती हूँ।"

गरीबदास यशपाल को उसके भीतरी एवं बाहरी रूप के अन्तर के सम्बन्ध में और जैसा वह नहीं है वैसा प्रदर्शित करने में, जो भय था उसके विषय में अनेक बार चेतावनी देते हैं। गरीबदास अन्तिम चेतावनी में यशपाल से निम्नलिखित वाक्य कहते हैं—

"गरीबदास—..... आपकी यह देशभक्ति नहीं ईर्षा-भक्ति है। इससे आप कभी सुख न पा सकेंगे। अपने अत्यधिक सुखी गृह को भी दुखी कर लेंगे और अन्यों को भी सुख न पहुँचा सकेंगे। आपकी जो आज प्रशंसा हो रही है इसे आप स्थायी न समझिये। उसकी प्रशंसा स्थायी रहती है, जिसके कार्यों की नींव शुद्ध अन्तःकरण की शुद्ध भावनाएँ हैं। ऐसी भावनाओं वाले प्रशंसा के पीछे नहीं चलते परन्तु प्रशंसा उनके पीछे चलती है। वे घूमकर भी उसकी ओर नहीं देखते पर अपने मार्ग पर चला करते हैं। आप जिस मार्ग पर चल रहे हैं वह उत्थान का नहीं पतन का मार्ग है; और वह, और अधिक इसलिए कि यथार्थ वह जैसा नहीं है वैसा लोग उसे समझ रहे हैं। बुरी वस्तु यदि बुरी ही दिखे तो वह उतनी भयानक नहीं होती जितनी अच्छी दिखने पर होती है। आपके हृदय में इस समय परमाथ नहीं, किन्तु अत्यधिक काला स्वार्थ है। इसे न भूलियेगा यशपाल जी, मनुष्य जो सोचता है प्रायः वही हो जाता है। यदि वह किसी की बुराई सोचता है तो स्वयं बुरा हो जाता है। मनुष्य को उसके कर्म सूर्य से भी

अधिक प्रकाशवन्त और अमा रात्रि से भी अधिक श्याम बना सकते हैं। जैसा वह नहीं है यदि वह दूसरों को प्रदर्शित करे तो वह जीवन मिथ्या जीवन है। मिथ्या जीवन कदापि सुखी जीवन नहीं हो सकता। जिनका ऐसा जीवन है उन्हें भीतर ही भीतर अत्यधिक क्लेश सहन करना पड़ता है। सच्ची भीतरी भावनाओं के विपरीत वाह्य प्रदर्शन न तो सदा दूसरों को भुलावे में रख सकता है और न स्वयं को ही सुख दे सका है। इस प्रकार सतत मिथ्या जीवन अपने आपको ही ऐसा कष्ट देता है जिसे मूक रहकर ही सहना पड़ता है और अपने निकटतम मित्र से भी नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं कुछ समय पश्चात् यह सारा वाह्य आडम्बर स्वयं को ही भार स्वरूप हो जाता है। भीतर की कालिमा से रंगी हुई कलम बाहर चटकीले रंगों का चित्र नहीं बना सकती। भीतरी पैशाचिक इच्छाएँ देवताओं सा वाह्य मुख नहीं रहने दे सकतीं। फूहड़ता से सौन्दर्य की रचना नहीं की जा सकती। दुष्टता से अच्छाई का निर्माण नहीं हो सकता। अपनी ही धूर्तता के लगातार पान से अपना ही जी मचलने लगता है, और ऐसे अवसर भी उपस्थित होते हैं जब धूर्त अपनी ही धूर्तता का सर्वसाधारण के सामने वमन करने के लिए आतुर हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं कि धूर्त में भी एक प्रकार का अहंकार होता है; परन्तु धूर्त और सत्यवादी के अहंकार में उतना ही अन्तर है जितना केंचुए और सर्प के लहराने में। किसी अन्य

के द्वारा अपने दुष्कृत्यों का भण्डा फोड़ कष्टप्रद महान कष्टप्रद है, परन्तु साहस के साथ अपने ही दुष्कृत्यों का यदि स्वयं ही भंडाफोड़ कर दिया जाय तो वह महान सुख पहुँचाता है, इतना ही नहीं किन्तु अनुपम वीरता का कृत्य हो जाता है। यशपाल जी आपका भंडाफोड़ हुए बिना न रहेगा। आपका सच्चा-स्वरूप एक न एक दिन प्रकट होगा ही। या तो महात्मा गान्धी के पवित्र योग्य बनिए या उसे कलुषित न कीजिये। क्यों अपने स्वर्गीय गृह जीवन को नरक बना रहे हैं? क्यों .....।" और अन्त में यशपाल का भण्डाफोड़ उसकी पत्नी ही द्वारा होता है।

सिद्धान्त स्वातंत्र्य

सिद्धान्त स्वातंत्र्य भी सामाजिक नाटक है। इस नाटक में दो ही अंक हैं। पहले अंक का समय है सन् १९०५ और दूसरे अंक का सन् १९३०। नाटक का नायक है त्रिभुवनदास। सन् १९०५ में त्रिभुवनदास बी० ए० पास करने के बाद बोर्डिंग हाउस से अपने घर लौटता है। वह बंग-विच्छेद के बायकाट आन्दोलन में छिपकर भाग लेता है। उसका पिता चर्तुभुजदास यद्यपि बहुत धनवान है, परन्तु साथ ही बड़ा कंजूस। चर्तुभुजदास राजभक्त है, और तहसीलदार सदृश साधारण राजकर्मचारियों को भी ज़मीन तक झुक झुक कर सलाम करता है। बाप की कंजूसी और बाप के राजभक्त विचारों के कारण त्रिभुवनदास और चर्तुभुजदास में बादविवाद होता है जो लड़ाई की सीमा तक पहुँच जाता है। त्रिभुवनदास 'सिद्धान्त स्वातंत्र्य' के आधार

पर पिता से लड़ता है परन्तु चर्तुभुजदास पुत्र के सिद्धान्तों पर अपने सिद्धान्तों का बलिदान कर देता है।

पर्चास वर्ष में त्रिभुवनदास के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। अब वह सर त्रिभुवनदास है और प्रान्त का होम मेम्बर। चर्तुभुजदास को राजा की पदवी मिल गयी है। त्रिभुवनदास का अब एक पुत्र भी हो गया है और उसका नाम है मनोहरदास। मनोहरदास गान्धी जी का अनुयायी है। जो त्रिभुवनदास 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' के सिद्धान्त पर पिता से लड़ा था वही पुत्र से भी लड़ता है और उसे घर से निकाल देता है। मनोहरदास सन् १९३० के सत्याग्रह में पिकेटिंग करते हुए गोली से घायल होता है। यह गोलीकांड होम मेम्बर की आज्ञा से ही होता है। राजा चर्तुभुजदास ने जिस प्रकार पुत्र के लिए अपने सिद्धान्तों का बलिदान किया था उसी प्रकार पौत्र के लिए भी वह अपने सिद्धान्तों को बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है, वह अपनी राजा की पदवी छोड़कर महात्मा-गान्धी के अनुयायी होने के लिए मनोहरदास को वचन देता है, परन्तु त्रिभुवनदास नहीं। वह तो अन्त तक अपने 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' का ही राग अलापता रहता है।

इस नाटक के भी कुछ उद्धरण देखिये।

आरंभिक वादविवाद के बाद पिता पुत्र के सिद्धान्त सुनिए—

"त्रिभुवनदास—..... आप अपने सिद्धान्त अपने पास

रखिये और मेरा मेरे पास रहने दीजिए। मैं सिद्धान्त-स्वातंत्र्य का पूजक हूँ।

"चर्तुभुजदास—मेरे तो कोई सिद्धान्त ही नहीं। मेरे सिद्धान्त तो तुम हो। तुम सुखी रहो, तुम आराम से रहो, तुम पर कभी कोई किसी तरह की भी आफ़त न आने पावे, यही मेरे सिद्धान्त हैं।"

इसके पच्चीस वर्ष के पश्चात् सर और लेडी त्रिभुवनदास का संभाषण होता है—

"त्रिभुवनदास—मैं यह नहीं कहता कि संग से मनुष्य कुछ नहीं सीखता, परन्तु संग गौण कारण है, मुख्य नहीं। मनोहर के इस समय के जोश का मुख्य कारण उसकी युवावस्था है, अनुभव-शून्यता है। संग तो मुझे भी ऐसे ही लोगों का रहता है, फिर मेरे हृदय पर अब उनका प्रभाव क्यों नहीं पड़ता? बात यह है कि कुछ समय से इस देश के वायु-मण्डल में जोश का रोग आ गया है। युवकों पर इसका सबसे अधिक असर होता है और इसमें ऐसी छूत है, जैसी किसी रोग में नहीं। युवकों को संसार का अनुभव रहता नहीं, बस उस जोश में बह जाते हैं। अवस्था के कुछ बढ़ने और संसार के अनुभव के होने पर जब जोश ठण्डा हो जायगा, तब वह चुप-चाप घर लौट आयगा। कुछ दिन दुनिया की ठोकरें खा लेने दो।

"सरस्वती—तो तुम समझते हो, बंग-विच्छेद के आन्दोलन

के समय तुम भी केवल जोश के कारण उस आन्दोलन के साथ हो गये थे और तुमने भी भूल की थी ?

"त्रिभुवनदास—इसमें मुझे थोड़ा-सा भी सन्देह नहीं है; परन्तु मैं तो ठीक समय रास्ते पर आ गया। दिन-भर का भूला भटका यदि रात को भी घर पर आ जावे, तो वह भूला भटका नहीं कहलाता; वरन् उलटा अनुभवी हो जाता है। ... ... सन् १९२० के असहयोग-आन्दोलन के समय तुम जानती हो, मुझे सार्वजनिक जीवन में पन्द्रह वर्ष हो चुके। उन पन्द्रह वर्षों में मैंने भारतवर्ष के एक-एक नेता को अच्छी प्रकार देख लिया था। निकट से देखने पर मुझे मालूम हो गया था कि अधिकांश नेताओं की देश-भक्ति किस प्रकार की है।

"सरस्वती—तो तुम्हारा यह कहना है कि सब नेता धूर्त हैं ?

"त्रिभुवनदास—नहीं, मेरा यह कहना नहीं है; पर अधिकाँश धूर्त हैं, इसमें सन्देह नहीं। ऊपर से वे देश-भक्ति दिखाते हैं; परन्तु उनके भीतर स्वार्थ कूट-कूटकर भरा है। सरकार का इसलिए विरोध करते हैं कि सरकार उनसे सौदा करे और ज्योंही सरकार सौदा करती है, त्योंही सौदा पटते ही सरकार की ओर हो जाते हैं।

"सरस्वती—(मुस्कराकर) तो अन्य लोगों के समान तुमने भी सरकार से सौदा किया ?

"त्रिभुवनदास—मेरे लिए तुम ऐसा नहीं कह सकती।

"सरस्वती—क्यों, तुम भी तो १९०५ से १९२० तक सरकार

के बड़े भारी विरोधियों में थे और आज सर की उपाधि से युक्तप्रान्त के होम-मेम्बर हो, एवं गवर्नर होने की भी आशा कर रहे हो। ससुर जी को राजा की पदवी मिल गयी है।

"त्रिभुवनदास—पहले तो मैं सरकार के साथ हूँ, यही मैं नहीं मानता; फिर यदि थोड़ी देर को तुम्हारा कहना मान लूँ, तो तुम समझती हो, मैं रुपये और उपाधियों के लिए सरकार के साथ हूँ?

"सरस्वती—रुपये के लिए तुम सरकार के साथ हो, यह दोषारोपण कोई भी तुम पर नहीं कर सकता; क्योंकि भगवान् ने तुम्हें बहुत रुपया दिया है। जो कुछ सरकार से तुम्हें मिलता है, उससे दूना तुम्हारा खर्च है; परन्तु सरकारी उपाधियाँ तुमने ली हैं, इसे तुम अस्वीकृत नहीं कर सकते।

"त्रिभुवनदास—उपाधियाँ मैंने ली हैं, यह नहीं; उपधियाँ मुझे मिली हैं, यह कहो। मैंने सरकार से उपाधियाँ लेने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया।

"सरस्वती—परन्तु जब मिल गयीं, तब उन्हें स्वीकार कर लिया।

"त्रिभुवनदास—हाँ, क्योंकि उनके स्वीकार करने में मैं कोई आपत्ति नहीं देखता था; इसलिए मैंने उन्हें स्वीकार किया कि उन्हें मैं बड़ी भारी वस्तु समझता हूँ, यह बात नहीं हैं, क्योंकि इन उपाधियों से भी कहीं बड़ी वस्तु सार्वजनिक प्रशंसा तक को

मैंने लात मार दी। मुझे बड़ा खेद है प्रिये, कि तुम तक मुझे नहीं समझ रही हो।

"सरस्वती—किस प्रकार ?

"त्रिभुवनदास—देखो मैंने बंग-भंग के आन्दोलन में सच्ची देश-भक्ति से प्रेरित होकर भाग लिया था। जैसा मैंने तुमसे कहा कि पन्द्रह वर्षों तक मैंने भारतीय नेताओं और जनता को निकट से देखा है और दोनों से मुझे अत्यधिक घृणा हो गयी है।

"सरस्वती—परन्तु उनसे घृणा होने के कारण सरकार की ओर होने की क्या आवश्यकता थी ?

"त्रिभुवनदास—सरकार की ओर मैं हुआ नहीं, यह तो मैंने पहले ही कहा। हाँ, मैंने अपनी कार्य-पद्धति अवश्य बदली और उसके दो कारण थे।

"सरस्वती—क्या ?

"त्रिभुवनदास—वही तो बता रहा हूँ। एक नेताओं का स्वार्थ और दूसरे इस देश की जनता की कायरता और अकर्मण्यता। सन् १९०५ से १९२० तक के सार्वजनिक जीवन में मैंने देख लिया कि जिस प्रकार इस देश के नेता निकम्मे हैं, उसी प्रकार इस देश की जनता भी किसी काम की नहीं। जो जनता पन्द्रह वर्षों के लगातार प्रयत्न पर भी ब्रिटिश माल तक का बहिष्कार न कर सकी, वह महात्मा गान्धी के असहयोग—आन्दोलन को सफल कर सकेगी, यह मुझे विश्वास ही न था। फिर असहयोग को तात्त्विक दृष्टि से भी मैं हानिकारक समझता

था, इसीलिए कांग्रेस द्वारा उनके कार्य-क्रम के स्वीकृत होते ही मैंने कांग्रेस को छोड़ दिया और बड़ी-बड़ी आशायें छोड़, थोड़ी-बहुत भी जो लाभ कौंसिलों द्वारा पहुँचाया जा सकता है, उसे पहुँचाने के लिए मैंने कौंसिल में प्रवेश किया। ... ...

"सरस्वती—असहयोग-आन्दोलन से कोई जागृति और लाभ नहीं हुआ ?

"त्रिभुवनदास—जागृति और लाभ ! मेरा तो इस सम्बन्ध में मत ही दूसरा है।

"सरस्वती—कैसा ?

"त्रिभुवनदास—मैंने कहा न कि मैं सात्त्विक-दृष्टि से उसे देश के लिए हानिकारक समझता हूँ। तुम जागृति और लाभ की बात करती हो, मेरी दृष्टि से इस आंदोलन से जो जागृति यहाँ हो रही थी, उसे तक बहुत रुकावट हो गयी और बड़ी भारी हानि पहुँची। .... महात्मा गान्धी बहुत बड़े आदमी हैं, इसमें संन्देह नहीं, परन्तु या तो महात्मा गान्धी को अभी दो-सौ-वर्ष पश्चात् हमारे संसार में जन्म लेना था या किसी दूसरे सितारे पर होना था। उनके असहयोग की नींव घृणा न होकर प्रेम है। वे अंग्रेज़ों से प्रेम करने को कहते हैं और उनके दुष्कर्मों में प्रेम के साथ असहयोग करने का उपदेश देते हैं। तुम्हें स्मरण होगा कि पहले वे अपने प्रेम के सिद्धान्तों के कारण विदेशी माल के बहिष्कार तक के विरूद्ध थे।

"सरस्वती—हाँ स्मरण है।

"त्रिभुवनदास—पर फिर अन्य अनेक कारणों से उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया, अकेले ब्रिटिश माल के बहिष्कार के तो वे आज भी विरुद्ध हैं।

"सरस्वती—जानती हूँ।

"त्रिभुवनदास—जब सारे संसार में स्वार्थ का राज्य है और एक दूसरे के गले काटने के लिए हर एक मनुष्य, हर एक जाति और हर एक राष्ट्र तैयार हो रहे हैं, तब इस प्रकार के प्रेम-पूर्ण कार्य क्रम से हमारा अभीष्ट कभी सिद्ध नहीं हो सकता। बंग-भंग के आन्दोलन के समय अंग्रेज़ी माल के बायकाट के साथ इस राज्य को उलट देने के लिए अनेक गुप्त संगठन हो रहे थे। इस देश का बच्चा-बच्चा अंग्रेज़ों से घृणा करने लगे, इस बात का प्रयत्न हो रहा था। हर स्थान पर घृणा की जागृति हो रही थी। महात्मा गान्धी ने बायकाट के स्थान पर असहयोग को जन्म देकर सारे गुप्त-संगठनों का ध्वंस कर दिया। घृणा की उस जागृति को रोक दिया और इस प्रकार देश को बड़ी भारी हानि पहुँचाई। इन आधिभौतिकता के प्रेमी अंग्रेज़ों पर इस प्रकार के प्रेम-पूर्ण असहयोग का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। सत्याग्रह की भी यही प्रेम नींव है; फिर उसमें तो स्वयं चाहे नष्ट हो जाय, पर अपने बचाव के लिए भी हिंसा निषिद्ध है। इस प्रकार के आन्दोलनों का अंग्रेज़ मज़ाक उड़ाते हैं। उन्हें

तो आयर्लेण्ड के सदृश आन्दोलन चाहिए या अमेरिका के सदृश स्वाधीनता का सशस्त्र संग्राम।..... (कुछ उत्तेजित होकर) जनता क्या कहती है, इसकी मुझे ज़रा भी चिन्ता नहीं है। एक अंग्रेज़ी कहावत है—'पब्लिक—पब्लिक, हाऊ मेनी फ़ूल्स मेक पब्लिक' इतना ही नहीं जनता में बुद्धि नहीं है, न उसमें विवेक है और न साहस। उसका मन तो उस सूने गृह के सदृश है, जिसमें किसी के भी शब्द की प्रतिध्वनि हो सकती है। जनता से अधिक घृणास्पद वस्तु और कोई नहीं। यदि वह नीच नहीं है, तो कोष में से 'नीचता' शब्द का बहिष्कार कर देना पड़ेगा। यदि वह कायर नहीं है, तो भाषा में से 'कायरता' शब्द को निकाल डालना होगा और यदि वह अकर्मण्य नहीं हैं तो फिर 'अकर्मण्यता' शब्द का उपयोग किसके लिए होगा? जिसमें देश की जनता! मूर्ख और मूर्ख ही नहीं पशुओं का समुदाय! जनता यों ही घृणास्पद होती है, फिर इस देश की जनता के लिए तो घृणास्पद शब्द से भी यदि कोई कड़ा शब्द हो, तो उसका उपयोग होना चाहिए। उसकी मूर्खता के कारण ही तो हम देखते हैं कि कुछ भी विशेषता रखने वाला व्यक्ति उसके बीच ईश्वर का अवतार मान लिया जाता है और उस अवतार का वह पूजन अवश्य करती है, चाहे उसके अनुसरण करने की बात वह स्वप्न में भी न सोचे।

"सरस्वती—किन्तु प्राणेश, यह सोचने से कोई लाभ नहीं

कि जनता कैसी होनी चाहिए। जैसी वह है, उसी से तो काम पड़ता है। जब उसके बीच में रहना है, तब ऐसे कार्य तो न करने होंगे, जिनसे उसे घृणा है।

"त्रिभुवनदास—तब ऐसे करने होंगे, जिनसे करने वाले को घृणा है। देखो प्रिये, यदि जीवन में मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ करना पड़े, तो उस जीवन तक को रखने की अपेक्षा मैं उसे समाप्त कर देना अधिक अच्छा समझता हूँ। चूँकि जनता में रहने के लिये मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है; इसलिए मैं जनता से कोई प्रयोजन नहीं रखना चाहता। मैं अपने अन्तःकरण से पूछकर हर एक कार्य करता हूँ और मेरा अन्तःकरण कहता है कि मैं हरेक कार्य को पूर्ण विवेक से कर रहा हूँ। तुम जानती हो, मेरे लिए संसार में सबसे अधिक मूल्यवान कौन सी वस्तु है?

"सरस्वती—कौन सी?

"त्रिभुवनदास—स्वातंत्र्य धन को यदि मूल्यवान समझता हूँ, तो इसीलिए कि वह मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए आज सबसे बड़ा साधन है। मैंने अपना काम पूर्ण ईमानदारी के साथ किया है। मिनिस्टरी के काम में मैंने अपने सब मुहकमों को आशातीत रूप से सुधारा है। जब से होम-मेम्बर हुआ हूँ, कमिश्नरों, कलक्टरों आदि को एक-एक करके दुरुस्त किया है। पिता जी छोटे छोटे सरकारी कर्मचारियों को झुक झुककर सलामें किया करते थे। बड़े बड़े अफ़सर मुझे झुक झुककर

सलामें करते हैं, वे सदा उनकी हाँ-हजूरी में दत्तचित्त रहते थे, मैं उन पर हुक्म चलाता हूँ।.....

"सरस्वती—अपने ही सम्बन्ध में तुम सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य पुजारी हो, दूसरों के सम्बन्ध में नहीं। प्राणेश, तुम्हारे घृणा और गुप्त संगठनों के सिद्धान्तों से महात्मा गान्धी का प्रेम पूर्ण असहयोग और सत्याग्रह का सिद्धान्त कहीं उच्च और व्यवहार्य है।

"त्रिभुवनदास—उच्च चाहे हो; किन्तु व्यवहार्य नहीं है।

"सरस्वती—इसीलिए तुम उसे अव्यवहार्य मानते हो न कि सन् १९२० का असहयोग-आन्दोलन असफल हो गया!

"त्रिभुवनदास—अवश्य।

"सरस्वती—तो सन् १९०५ में किये गये घृणा-प्रचार और गुप्त संगठन भी असफल हो गये। सन् १९२० के असहयोग-आन्दोलन के असफल होने का दोष, असहयोग के कार्य-क्रम को न होकर, इस देश की जनता को है, जिसे तुम भी अकर्मण्य कहते हो। यदि सत्याग्रह भी असफल हुआ, तो इसका दोष भी जनता के सिर पर होगा, यह नहीं, कि ये सिद्धान्त ठीक नहीं हैं। भारतीयों के सदृश निःशस्त्र जनता यदि किसी मार्ग से स्वतन्त्र हो सकती है, तो असहयोग और सत्याग्रह से ही फिर इनका विश्व-व्यापी महत्त्व है। यदि भारतवर्ष ने इन मार्गों-द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, तो नित्यप्रति की मार-काट से ऊब कर जो संसार निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न में लगा हुआ है, उसे त्राण पाने के लिए

भारत नवीन मार्ग बतावेगा। संसार में अन्याय के प्रतिकार के लिए जो युद्ध अनिवार्य माना जाता है, उसका स्थान यदि कोई ले सकता है, तो सत्याग्रह ही। (ज़ोर से) बैरा, बैरा! यह टेबिल उठाकर ले जाओ। प्राणेश! स्मरण रखो, निःशस्त्रों पर शस्त्रधारियों का सदा प्रहार कर सकना नैसर्गिक विषय के प्रतिकूल है। शस्त्रधारियों पर ही शस्त्रधारी प्रहार कर सकते हैं। इस सत्याग्रह आन्दोलन के सत्याग्रहियों पर जिस प्रकार की लाठियाँ चलाना आरम्भ हुआ है, स्त्रियों और बच्चों तक पर जिस प्रकार गोलियाँ बरसना आरम्भ हुआ है, संसार सदा इसे नहीं देख सकेगा। यह भीषण अन्याय और अत्याचार एक दिन सारे भू-मण्डल को कँपा देगा और अंग्रेज़ी सत्ता तो बहुत छोटी वस्तु है, सारे संसार की सम्मिलित पाशविक शक्ति भी इसके सम्मुख थर्रा उठेगी।"

जब गोली लगने से मृतवत् मनोहरदास का शरीर त्रिभुवनदास के मकान में आता है तब लेडी त्रिभुवनदास मूर्छित हो जाती है। मूर्छा-भंग होने पर अर्द्ध विक्षिप्त लेडी त्रिभुवनदास का प्रलाप सुनिए—

"सरस्वती—हाँ, हाँ, मानती हूँ, घृणा और हिंसा ही का यह परिणाम है। मैं तो आरम्भ से ही उन्हें बुरा मानती हूँ। जिसके हृदय में घृणा और हिंसा होती है, वह पहले परायों को घृणा की दृष्टि से देखता है, उनकी हिंसा करता है, फिर अपनों की भी।

पिता ने पुत्र की हत्या की है; पिता ने पुत्र की ! (चुप होकर बैठ जाती है ।)

मनोहरदास के होश में आने पर चतुर्भुजदास, मनोहरदास, डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट विश्वेश्वरदयाल और त्रिभुवनदास का सम्भाषण होता है—

"चतुर्भुजदास—हाँ, हाँ, बेटा, तेरी प्रतिज्ञा पूरी होगी..... बेटा, मैं कभी अपने लिए जिया ही नहीं। पहले तेरी दादी के लिए जीता था, फिर तेरे बाप के लिए। एक-एक पैसा खून का पानी कर तेरे बाप के लिए कमाया था। वह एक दिन सबका-सब तेरे बाप को दे दिया। अब तेरे लिए जिऊँगा। तेरे पिता का सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य मेरी समझ में नहीं आता। जब तेरे पिता ने बी० ए० पास किया था, उस वक्त देश को स्वतन्त्र करने के सिद्धान्त पर वे मुझसे लड़े थे; पर वही जब तू करना चाहता है, तब वे तुझसे भी लड़ रहे हैं। मैंने पिता होने के सबब उनसे हार मान ली थी; पर वे तुझ से नहीं मानते। न जाने उनका यह कैसा सिद्धान्त-स्वातंत्र्य है कि इसके पीछे ये अपने बाप से भी लड़े और बेटे से भी। तेरा देश-प्रेम भी अब तक मेरी समझ में नहीं आया; पर हाँ, तेरी दादी का, तेरे बाप का और तेरा प्रेम समझ में आता है। अब मरते-मरते शायद तेरे साथ और महात्मा गान्धी के आशीर्वाद से देश-प्रेम भी समझ में आ जाय।.....

"विश्वेश्वर दयाल—देश के लिए आपने अपना महल,

अपनी सम्पत्ति, सब कुछ छोड़ा है, अपने प्राणों तक की आहुति देने में आप पीछे नहीं हटे। आपके इस अद्भुत आदर्श और राजा साहब के इस समय के कथन ने आज मेरे हृदय में भी महान् परिवर्तन कर दिया है, मेरे आन्तरिक चक्षु खोल दिये हैं। यद्यपि आज अपने देशवासियों पर गोली चलाने की आज्ञा देते समय भी मेरे हृदय की विचित्र दशा थी; परन्तु उस समय मैं अपने सम्बन्ध में कुछ निर्णय नहीं कर सका था। अब मैंने भी अपने सम्बन्ध में निश्चय कर लिया...मैं कल नौकरी से त्याग पत्र दे दूँगा।.....

"चर्तुभुजदास—(कुछ ठहर कर त्रिभुवनदास से) अब तुम क्या करोगे त्रिभुवन ?

"त्रिभुवनदास—(कुछ सोचते हुए)। मैं, मैं, मैं पिता जी, (कुछ रुककर) मैंने अभी कुछ निर्णय नहीं किया है। आप जानते हैं, मैं हृदय से नहीं; परन्तु मस्तिष्क से शासित होता हूँ। मैं इस प्रकार सस्ते वचन देने में असमर्थ हूँ। (फिर कुछ रुककर) मुझे अभी सारे विषय पर सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य...सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य... सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से विचार.....विचार..... विचार.....करना..... ।"

स्पर्द्धा गोविन्ददास जी का एक मात्र एकांकी सामाजिक नाटक है। नाटक का क्षेत्र है 'यूनियन क्लब' नामक स्थान, जिसकी स्थापना आधुनिक सभ्य स्त्री पुरुषों के सच्चे 'यूनियन' (एकता) के

स्पर्द्धा

लिये हुई है, परन्तु आरम्भ में ही इस यूनियन के प्रयत्न में बाधा उपस्थित हो जाती है। इस बाधा का कारण है 'यूनियन क्लब' के ही एक सदस्य और सदस्या के बीच का संघर्ष और इस संघर्ष का कारण है इन दोनों के कौंसिल के लिए एक दूसरे के विरोध में खड़ा होना। स्त्री सदस्या का दल पुरुष सदस्य के आचरण पर आक्षेप करता है और पुरुष सदस्य का दल स्त्री सदस्या पर। स्त्री के आचरण पर आक्षेप और वह भी पुरुषों द्वारा! 'शिवलरी' (पुरुषोचित बहादुरी) के सारे सिद्धान्तों को ताक में रखकर! पुरुष सदस्य के दल की इस अपुरुषोचित कार्यवाही पर विचार करने के लिए क्लब की स्त्री सदस्याओं के अनुरोध पर क्लब के सदस्यों की बैठक बुलायी जाती है और उसमें पुरुष सदस्य त्रिवेणीशंकर पर लानत का प्रस्ताव उपस्थित होता है। प्रस्ताव पर जो बहस होती है उसका कुछ अंश देखिये—

"त्रिवेणीशंकर—मोस्ट अनशिवलरस एक्ट से आपका क्या अभिप्राय है? क्या आप समझते हैं कि हर परिस्थिति में महिलाओं की रक्षा का भार पुरुषों के ही कन्धों पर है?" ... महिलाओं की रक्षा का भार हर परिस्थिति में पुरुषों के कन्धों पर नहीं है। वह समय अब बहुत कुछ बीत चुका है तथा शीघ्रता से बीतता जा रहा है जब महिलाओं की रक्षा का भार हर परिस्थिति में पुरुषों पर था। उस समय पुरुष अपने सुख-दुःख की कोई चिन्ता न कर, अपने शरीर की परवा न कर अपने

प्राणों को हथेली पर रखकर महिलाओं की रक्षा करते थे; इतना ही नहीं, उन्हें गृह-देवियाँ मानकर उनका सत्कार और उनका पूजन तक करते थे।

"कृष्णाकुमारी—(खड़ी होकर) बीच में बोलने के लिए क्षमा कीजिए।

"त्रिवेणीशंकर—नहीं, नहीं, आप मुझे इन्टरप्ट कर सकती हैं। (बैठ जाता है।)

"कृष्णाकुमारी—आपके कथन से तो यह जान पड़ता है कि महिलाएँ पुरुषों के लिये कुछ करती ही न थीं। सच तो यह है कि महिलाएँ तो अपने सुखों की उतनी चिन्ता भी न करती थीं और न आज करती हैं, जितनी पुरुष अपने सुखों की। वे तो पुरुषों के ही सुख में अपना सुख मानती थीं, उन्हें ईश्वरवत् समझती थीं। (बैठ जाती है।)

"कुछ व्यक्ति—हिअर हिअर ! हिअर हिअर !

"त्रिवेणीशंकर—(खड़े होकर) हाँ, यह भी मैं मानता हूँ, मिस कृष्णाकुमारी, महिलाएँ भी पुरुषों को ऐसाही मानती थीं और अनेक आज भी मानती हैं, जैसा आप कह रही हैं। वे भी उनके सुखों में ही अपना सुख समझती थीं और इस प्रकार दोनो का परस्पर-सम्बन्ध ... ...

"कृष्णाकुमारी—(खड़ी होकर) फिर इण्टरप्शन के लिए क्षमा कीजिए मिस्टर शर्मा। (शर्मा बैठ जाता है) जिस प्रकार का सम्बन्ध आप कहते हैं वह परस्पर नहीं था। महिलाओं पर

अधिकतर पुरुषों के अत्याचार ही होते थे और आज भी होते हैं। (बैठ जाती है।)

"त्रिवेणीशंकर—(खड़े होकर) यह भी होता था और होता है, यह भी मैं मानता हूँ, मिस कृष्णाकुमारी, परन्तु इससे जिस बात का मैं प्रतिपादन कर रहा था उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। मैं कह रहा था कि हर परिस्थिति में पुरुषों पर महिलाओं की रक्षा का भार था, वह अब बदल रही है।

"विजया—अर्थात् निम्न क्षेत्र से महिलाएँ पुरुषों के बराबरी के क्षेत्र में आ रही हैं।

"त्रिवेणीशंकर—पहले वे निम्नक्षेत्र में थीं, यह तो मैं नहीं मानता, परन्तु, हाँ, इतना मानता हूँ कि उनके और पुरुषों के कार्यों का एक क्षेत्र नहीं था। मेरा तो अब भी यही ख्याल है कि निसर्ग ने ही दोनों को भिन्न-भिन्न प्रकार से बनाया है, अतः दोनों के कार्य-क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न होना ही स्वाभाविक है और दोनों में से कोई भी निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब महिलाओं ने उसी क्षेत्र में पदार्पण किया है जिसमें पुरुष हैं, तब वे यह आशा नहीं कर सकतीं कि इस परिस्थिति में भी पुरुष उनके रक्षक ही रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में जिस प्रकार का संघर्ष पुरुषों-पुरुषों के बीच में है, उसी प्रकार का संघर्ष पुरुषों-स्त्रियों में होगा। उदाहरणार्थ, अब महिलाएं सेना का कार्य सीख रही हैं। यदि वे सेना में भरती हुईं, जैसा कहीं-कहीं होने भी लगा है, और उन्होंने युद्ध किया जैसा कहीं कहीं

वे करने भी लगी हैं, तो क्या वे आशा करती हैं कि स्त्री-सेना को देखते ही पुरुष-सेना अपने शस्त्र रख देगी और परित्राण शूरता के नाम पर अपने को नष्ट हो जाने देगी ?

"वर्मा—(मुस्कराते हुए) ऐसा तो होना ही चाहिए। महाभारत में तो, जो पूर्व-जन्म में स्त्री था, ऐसे शिखंडी के सामने आते ही भीष्म पितामह ने शस्त्र रख दिये थे।

"त्रिवेणीशंकर—(मुस्करा कर) शिखण्डी एक था और भीष्म पितामह सब नहीं हो सकते। यदि उस समय भी स्त्रियों की सेनायें होतीं, और वे युद्ध करने जातीं तो पुरुष-सेनाएँ कभी शस्त्रों को न रख देतीं। खैर ! दूसरा उदाहरण लीजिए। अब महिलाएं पुरुषों से मल्लयुद्ध तक करने को अग्रसर हो रही हैं। कुछ ही दिन हुए, आस्ट्रेलिया के सिडनी नगर में एक स्त्री-पहलवान गरिस एकोरो ने एक पुरुष पहलवान लेस बीर्स के साथ कुश्ती लड़ी थी। क्या महिलाएं यह आशा करती हैं कि वे पुरुषों को कुश्ती के लिए ललकारेंगी और इतने पर भी पुरुष या तो उनसे कुश्ती लड़ेंगे ही नहीं, क्योंकि न लड़ने पर भी उनकी शूरता में बट्टा लगता है, या परित्राण-शूरता के नाम पर चुपचाप उनके धक्का देते ही चित हो जायेंगे। यही बात अन्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी है। जहाँ जहाँ संघर्ष होगा, वहाँ वहाँ जीवन संग्राम के नियम का उपयोग होगा, परित्राण शूरता का नहीं। यद्यपि मैं सत्य कहता हूँ कि मैं यह नहीं जानता कि मिस कृष्णाकुमारी के चरित्र के सम्बन्ध में वह विज्ञापन किसने

निकाला है, तो भी मैं इतना कह सकता हूँ कि यदि मेरे चरित्र पर आक्षेप करने वाला विज्ञापन न निकला होता तो कदाचित यह भी न निकलता।

"वर्मा—कदाचित क्यों, निश्चयपूर्वक न निकलता।

"त्रिवेणीशंकर—नहीं, मिस्टर वर्मा, निश्चय पूर्वक तो नहीं कह सकता।

"वर्मा—क्यों ?

"त्रिवेणीशंकर—इसलिए कि जिस प्रकार मिस कृष्णा-कुमारी के चरित्र पर आक्षेप हुये बिना ही मेरे चरित्र पर आक्षेप हुआ, उसी प्रकार मेरे चरित्र पर आक्षेप हुए बिना ही मिस कृष्णाकुमारी के चरित्र पर भी हो सकता था। एक बार संघर्ष होने के पश्चात् प्रहार किस ओर से होता है, यह कभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हाँ घात पर प्रतिघात होता है, यह स्वाभाविक नियम है। (कुछ ठहरकर) अब मुझे और कुछ न कहकर केवल इतना ही कहना है कि यदि आप लोग गंभीरता-पूर्वक विचार करके देखेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि यूनियन क्लब में आज जो प्रश्न उठा है वह यथार्थ में केवल मिस कृष्णाकुमारी और मुझसे सम्बन्ध नहीं रखता। यह तो स्त्री और पुरुष-समाज के पारस्परिक व्यवहार की जड़ से सम्बन्ध रखता है।

"कृष्णाकुमारी—मिस्टर शर्मा ने, इसमें सन्देह नहीं, अपने भाषण में विषय का तात्त्विक दृष्टि से प्रतिपादन किया है।

यद्यपि उनकी कही हुई अनेक बातों से मैं सहमत नहीं हूँ, तथापि इतना मैं अवश्य मानती हूँ कि यदि महिलाएँ समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से स्पर्द्धा करना चाहती हैं तो उन्हें पुरुषों से परित्राण शूरता के नाम पर किसी बात की आशा न रखनी चाहिए, वरन् मैं तो मिस्टर शर्मा के भाषण के पश्चात् उस समय का स्वप्न देखने लगी हूँ, जब महिला-वर्ग पुरुष-वर्ग की रक्षा का भार अपने कन्धों पर लेगा।

"त्रिवेणीशंकर—(मुस्करा कर) इण्टरप्शन के लिए क्षमा। (कृष्णाकुमारी बैठ जाती है।) पुरुष की रक्षा का भार तो एक प्रकार से अब तक भी आप लोगों के कन्धों पर ही रहा है, मिस कृष्णाकुमारी, और भविष्य में भी रहनेवाला है। आप ही तो पुरुषों को उत्पन्न करती हैं। उनकी उस समय रक्षा करती हैं, जब आपके अतिरिक्त कोई उनकी रक्षा की सामर्थ्य ही नहीं रखता। उन्हें पाल-पोसकर आपही बड़ा करती हैं और तब अपनी रक्षा का भार उन्हें सौंपती हैं (बैठ जाता है।)

"कृष्णाकुमारी—(खड़े होकर) नहीं, पुरुषों के बड़े होने पर भी अब हम उनकी रक्षा करना चाहती हैं। अपनी सीमाबद्धता से हम ऊब उठी हैं। हमारे समस्त दुःखों की जड़ें ये सीमाएँ ही हैं। ये सीमाएँ ही हमारे उत्कर्ष के लिए बाधक हैं। हम इन सीमाओं को तोड़ देना चाहती हैं।

"त्रिवेणीशंकर—सीमा-बद्धता नैसर्गिक नियम है।

"कृष्णाकुमारी—कौन-सी सीमा नैसर्गिक है और कौन-सी

कृत्रिम, यह कहना सरल नहीं है, मिस्टर शर्मा। इतना ही नहीं आजतक के बड़े से बड़े दार्शनिक और तत्ववेत्ता भी एकमत से इस सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मकनिर्णय नहीं कर सके हैं। खैर, जो कुछ हो, इस स्पर्द्धा में, इस संघर्ष में हमने सोच समझ कर ही पैर रखा है और हम पुरुषों के द्वारा अपनी रक्षा नहीं चाहतीं। (विजया से) बहन, मैं तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि तुम अपना प्रस्ताव वापस ले लो।"

मनुष्य समाज में इस प्रकार के अपवादों का क्या स्थान है इस विषय में इसी नाटक में एक स्थान पर सुन्दर कथोपकथन हुआ है उसे भी सुनिए—

"वर्मा—डाक्टर खान, मैं तो बीच बाजार में छप्पर पर खड़े होकर कहने को तैयार हूँ कि मनुष्य स्वभाव इस प्रकार के अपवादों से आनन्द पाता है। लोगों की जबान को आप कभी बन्द नहीं कर सकते, लोग खाने घर का हैं और बात परायी करते हैं। किसी के कानों को भी आप बन्द नहीं क सकते। लोग इस प्रकार के अपवाद बड़े चाव से सुनते औ फिर उनमें नमक-मिर्च लगाकर दूसरों में फैलाते हैं। जि समाचार-पत्रों को हम लोकमत बनाने और जाग्रत करनेवाल समझते हैं, वे तक सदा इस प्रकार के अपवादों की मुंह-फा कर प्रतीक्षा किया करते हैं। किसी भी समाचार-पत्र कार्यालय में जाकर पूछ आइये। पत्र के जिस अंक में इ प्रकार के अपवाद छपते हैं उसी की सबसे अधिक बिक्री हो

है। सबसे शीघ्र और अधिक यदि कोई समाचार फैलता है तो अपवादजनक। अपवाद मनुष्य का सबसे अधिक प्रिय विषय है। हम लोगों में से प्रत्येक मनुष्य अपवाद करता है, सुनता है, नमक-मिर्च लगा उसे बढ़ाता है और उससे आनन्द पाता है। पर, हां, इतना अन्तर अवश्य है कि मिस्टर अग्निहोत्री और उनके सदृश विचार वाले व्यक्ति वही कार्य बुरा कहते हुए करते हैं और मैं उसे बुरा कहता ही नहीं। मैंने कहा न कि मैं तो अपवाद को समाज का जीवन मानता हूँ। .....
बिना इसके समाज का एक व्यक्ति भी सुखी नहीं रह सकता। देखिये, मिस्टर अग्निहोत्री, यह जीवन-पथ फिसलने से भरा हुआ है और मनुष्य, चाहे वह अपने को कितना ही ज्ञानवान क्यों न माने, एक अज्ञानी बच्चे से अधिक नहीं है। हरएक व्यक्ति बार-बार फिसलने में फिसलता है। जब वह फिसलता है तब किसी फिसलते हुए बच्चे के समान चारों ओर दृष्टि घुमा घुमाकर देखता है कि कोई उसकी फिसलन देख तो नहीं रहा है, परन्तु उसी बाल-प्रवृत्ति के अनुसार दूसरों का फिसलना बड़े ध्यान से देखता और उसे बढ़ा-बढ़ाकर दूसरों से कहता है। यह इसलिए कि यदि कभी उसका फिसलना और गिरना किसी ने देखा या सुना हो तो दूसरे के फिसलने और गिरने से उसका फिसलना और गिरना छिप जाय। इस प्रकार यह अपवाद एक दूसरे की फिसलन को ढांककर हरएक को सुख देता है। अब कहिए, अपवाद अच्छी वस्तु है या बुरी। ..... और संसार

सदा ऐसा ही रहनेवाला है। एक दूसरे पर हँसते हुए समय व्यतीत करना यदि मूर्खता ही मान ली जाय तो इससे अधिक बुद्धिमानी की मैं दूसरी कोई बात भी तो नहीं देखता।"

अन्य चार सामाजिक नाटक

गोविन्ददास जी के शेष चार सामाजिक नाटक 'दलित कुसुम', 'बड़ा पापी कौन ?' 'विश्व-प्रेम' और सेवा-पथ भी उनके अन्य नाटकों के ही समान हैं।

'दलित कुसुम' में एक विधवा की जीवन कथा है। कुसुम बाल विधवा है। वैधव्य के कारण वह इस लोक से दृष्टि हटा परलोक की ओर दृष्टि लगाती है। मन्दिर में पूजा-पाठ करती है, पर मन्दिर का महन्त उसका सतीत्व नाश करने का प्रयत्न करता है। उसके बाल्यावस्था के एक साथी मदन नामक एक डाक्टर से उसके पुर्नविवाह की बात चलती है, पर वह भी उसे धोखा देता है और यह विवाह नहीं हो पाता। माता की मृत्यु के पश्चात् असहाय कुसुम अपने ससुर की शरण जाना चाहती है, पर वह उसे अपने बेटे को खाने वाली कहकर उसे घर में नहीं आने देता। आश्रय को ढूंढ़ती हुई कुसुम विधवाश्रम को जाती है, पर उसे वह औरतों को बेचनेवाला अड्डा पाती है। मिशिनरी संस्था में जाती है, पर बिना ईसाई हुए उसे वहाँ भी आश्रय नहीं मिलता। इस प्रकार निराश्रित कुसुम जब सड़कों पर भटक रही है तब वह कुंज नामक बैरिस्टर की मोटर से दबती है। कुंज भी उसका एक सखा है। वह बिलासी व्यक्ति

है और कुसुम की ही बाल्यावस्था की एक संगिनी यूथिका के साथ रहता है। अब कुसुम यूथिका के घर में नौकरानी के समान रहती और नाना प्रकार के अपमानों को सहती है। आखिर जब यहाँ भी उसका रहना असंभव हो जाता है तब वह कुंज के घर जाती है। कुंज उसे आदर पूर्वक अपने घर में रखता है, पर उसे कोई काम नहीं देता। इस प्रकार का जीवन भी कुसुम के लिए असह्य हो जाता है और वह वहाँ से भी जाने का विचार करती है, पर इसी समय कुंज उसे बालिका विद्यालय में अध्यापिका का कार्य दिला देता है। बालिका विद्यालय की संचालिका कुसुम के करुण जीवन वृत्तान्त के कारण द्रवीभूत हो तथा उसके जीवन वृत्तान्त से समाज को शिक्षा मिलेगी, इस भावना से एक सार्वजनिक सभा में उसके भाषण की व्यवस्था करती है। जब यह हाल विधवाश्रम के मैनेजर रसिकलाल को मालूम होता है तब विधवाश्रम की पोल खुलने के वजह से वह सार्वजनिक सभा में कुसुम न बोलने पावे, इसकी व्यवस्था करता है। 'अरे यह तो वही महन्तवाली है' 'अब रन्डियाँ भी समाज सेवा करेंगी' इत्यादि नारों के कारण कुसुम मूर्छित हो सभा में गिर पड़ती है और सभा भंग हो जाती है। कुसुम सदृश पतित स्त्री को बालिका विद्यालय में रखने के कारण बालिका विद्यालय का बायकाट होता है और कुसुम वहाँ से भी निकाली जाती है। यहाँ से रसिक लाल की एक कुटनी कुसुम को अपने घर ले जाती है और वहाँ कुसुम पर रसिकलाल

बलात्कार करता है। अब कुसुम के लिए अपना शरीर रखना असंभव हो जाता है और वह आत्म-हत्या करने के लिए गंगा में कूदती है, पर पुलिस उसे पानी में से निकाल लेती है और उस पर आत्म-हत्या करने के अभियोग पर मुकदमा चलता है। अपना बयान देते हुए अभियुक्त और भग्न हृदय कुसुम की अदालत में ही मृत्यु हो जाती है। इस नाटक के कोई उद्धरण यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं। इसका यह कारण नहीं है कि इसके उद्धरण देने योग्य नहीं हैं पर कितने उदाहरण दिये जाँय, यह प्रश्न है। भारतीय स्त्री समाज पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उनका यह नाटक जीता जागता चित्र है और इसे पढ़ते पढ़ते एक नहीं अनेक स्थलों पर आँसुओं की झड़ी लग जाती है।

'बड़ा पापी कौन ?' में दो पापियों की कथा है। एक है पुराने ढंग का पापी और दूसरा है नये ढंग का। पुराने ढंग का पापी वेश्यागामी और शराबी है। इन दुर्गुणों के रहते हुए भी वह उदार और सिर न झुकाने वाला व्यक्ति है। वह अपनी जमींदारी के किसानों को कष्ट नहीं पहुँचाता, अपने मिल के मजदूरों पर कृपा रखता है। परन्तु इन दुर्गुणों और काम काज न देखने के कारण उसका घर और संपत्ति बर्बाद हो रहे हैं। नये ढंग का पापी यद्यपि वे सभी पाप करता है जो पुराने ढंग का पापी करता है, परन्तु अपनी व्यवसायी बुद्धि के कारण अपने घर का उत्कर्ष भी कर रहा है। अन्य पापों के साथ इस उत्कर्ष के लिए वह इस पुराने ढंग के पापी से खरीदे हुए गाँव के

किसानों को कष्ट देता है, इस पुराने ढंग के पापी से लिए हुए मिल के मज़दूरों पर अत्यधिक अत्याचार करता है और असेम्बली में बजट की गुप्त बातों को जानकर असीम धन कमाता है। इन सब पापों को ढाँकने के लिए वह किसानों के लिए स्कूल खोलता तथा बहुत बड़े बड़े दान भी देता है। पुराना पापी बदनाम है और नया पापी नेकनाम। परन्तु कौन पापी बड़ा है, यह नाटक की समस्या है। इस नाटक के भी उद्धरण इसलिए नहीं दिये जा रहे हैं कि कौनसा अंश उद्धृत किया जाय और कौनसा नहीं, यह निर्णय करना कठिन है।

'विश्व-प्रेम' गोविन्ददास जी का प्रथम नाटक है। इसमें प्रेम तथा लालसा एवं व्यक्ति प्रेम तथा विश्व-प्रेम का अन्तर प्रतिपादित हुआ है।

'सेवापथ' उनका अन्तिम नाटक है। इसमें तीन युवक सेवा पथ पर चलना चाहते हैं। दीनानाथ शरीर से सेवा करना चाहता है, शक्तिमल राजनीति द्वारा और श्रीनिवास धन से। दीनानाथ को ही सफलता मिलती है।

विश्व-प्रेम में जिन भावनाओं के हमें बीज दिखते हैं, सेवापथ में उन्हीं का विकास। इन दोनों नाटकों के भी कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

विश्व-प्रेम में प्रमोदिनी अपने पुत्र मोहन से कहती है—"वत्स! प्रेम और लालसा में आकाश पाताल का अन्तर है। प्रेम में कामना नहीं है, वासना नहीं है। जहाँ कामना नहीं है,

वासना नहीं, वहीं सुख है। ऐसा सुख केवल प्रेम से उत्पन्न होता है। इस प्रेम का पात्र समस्त विश्व है। ऐसे प्रेमी को कभी वियोग का दुःख नहीं, क्रोध नहीं, लोभ नहीं, मोह नहीं, कभी चिन्ता नहीं, कभी द्वेष नहीं। प्रेमी को किसी वस्तु विशेष की इच्छा नहीं। जहाँ कोई इच्छा हुई, वहाँ प्रेम नहीं रहा, वहाँ लालसा है। कामना और वासना का बन्धन ही पराधीनता है। यह पराधीनता ही दुःख की जड़ है। प्रेम और लालसा में भारी अन्तर है। इसमें जितना सुख है, उसमें उतना ही दुःख है।..... जिस मनुष्य को इस प्रेम-पथ पर चलना होता है उसे स्वार्थ का त्याग कर देना पड़ता है। इस नष्ट होने वाले शरीर की, इन अनित्य इन्द्रियों की लालसा से सदा के लिए उसे अपना मुख मोड़ लेना पड़ता है।.....

स्वार्थ भूल अब, प्रेमी बन कर, प्रेम सभी से ठान।
तज कर भेदभाव यह सारा, समता सब में मान॥
प्रेम रूप हो, विमल प्रेम की, कीर्ति सदैव बखान।
अन्त समय तक चल इस पथ, पर सफल जन्म तब जान॥

"मोहन—आज के पश्चात् किसी व्यक्ति या किसी स्थान से प्रेम करना क्या मेरे पथ से विचलित होना होगा?

"प्रमोदिनी—कदापि नहीं, हाँ, उसमें लालसा का संमिश्रण होना अवश्य पथ भ्रष्ट होना होगा। बेटा! विश्व-प्रेम का पथिक किसी भी व्यक्ति या स्थान से प्रेम कर सकता है।

"मोहन—अच्छा।

"प्रमोदिनी—विश्व क्या है? सारे व्यक्तियों और स्थानों की समष्टि ही तो विश्व बनाती है। निकटवर्ती व्यक्तियों और स्थानों पर प्रेम का प्रदर्शन होना स्वाभाविक है, क्योंकि मनुष्य की पहुँच सारे विश्व में नहीं हो सकती। जिस प्रकार समुद्र की लहर जिस स्थान से उठती है, वहाँ अधिक ऊँची रहती है, और जैसे-जैसे, आगे बढ़ती जाती है स्वभावतः छोटी होकर विलीन हो जाती है, उसी प्रकार विश्व-प्रेमी का प्रेम भी निकटवर्ती वस्तुओं और स्थानों पर अधिक प्रदर्शित होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शेष विश्व से उसका प्रेम नहीं है। उसके हृदय में किसी से प्रेम, किसी से घृणा नहीं रहती। सब पर प्रेम-दृष्टि उसका स्वाभाविक गुण हो जाता है।"

'सेवा-पथ' में इन्हीं भावनाओं का विकास हुआ है—

"दीनानाथ—देखो स्वार्थ का मूलोच्छदेन केवल विषय भोगों के त्याग से ही नहीं होता।

"कमला—तो फिर विषय भोग का त्याग निरर्थक है, आपने व्यर्थ ही इतना कष्ट पाया और पा रहे हैं।

"दीनानाथ—नहीं उनका त्याग तो आवश्यक है, बिना उनके त्याग के तो स्वार्थ-त्याग के पथ में पैर रखना ही असंभव है, जिस प्रकार लंबी से लंबी यात्रा के लिए भी पहले कदम की आवश्यकता है उसी प्रकार मेरे स्वार्थ-त्याग के पथ की यात्रा के लिए विषय भोगों का त्याग पहला कदम, पहली सीढ़ी है। विषय

भोग के त्याग और अपने सिद्धान्त-त्याग की अटलता में विश्वास होने पर अपने पथ पर चलने की आत्म-शक्ति अवश्य प्राप्त हो जाती है, परन्तु उसे स्वार्थ के आक्रमणों से बचाने का फिर भी सदा प्रयत्न करने की आवश्यकता है। अच्छे से अच्छा घुड़सवार बुरी से बुरी तरह गिरता भी है। मेरे पथ का पथिक भी बिना गिरे अपने निर्दिष्ट स्थान को नहीं पहुँच सकता। कीर्ति सुनने की लालसा और बुराई सुनने से क्रोध एवं शोक ये दोनों भी तो स्वार्थ से उत्पन्न होते हैं। इस घाटी को लांघने और यदि इसके लाँघने में पतन हो तो उस पतन के पश्चात् और दृढ़ता से उठकर चलने की आवश्यकता है।

"कमला—आप न जानें इस संसार को किस दृष्टि से देखते हैं? प्राचीन काल के बड़े बड़े त्यागी ऋषि मुनियों और राजर्षि नरेशों तथा इस समय के बड़े बड़े नेताओं सभी को अपनी कीर्ति सुनने की अभिलाषा रही है; और है, किसी को अपनी बुराई अच्छी नहीं लगी, और न लगती है।

"दीनानाथ—जिन्हें भी यह लालसा रही है, या है, समझलो, वे अपने हृदय से स्वार्थ का मूलोच्छेदन नहीं कर सके; और यही कारण उनके पथ-भ्रष्ट होने का है। कीर्ति श्रवण की लालसा का स्वार्थ तो कमला, विषय भोग के स्वार्थ से भी बड़ा है। कई व्यक्ति इसीलिए प्रत्यक्ष में विषय भोगों का त्याग कर देते हैं कि उनकी कीर्ति होगी। भीतर ही भीतर वे इन विषयों को भी पूर्ण रूप से नहीं त्यागते, छिपे छिपे वे उनका

उपयोग करते हैं। छिपकर जो कार्य किया जाता है वही पाप है। पाप का यह घड़ा जहाँ फूटा कि ऐसे व्यक्ति पथ-भ्रष्ट हुए; और वह प्रायः फूटता ही है।

"कमला—और जो लोग विषय भोग सचमुच में त्याग देते हैं, जैसे आपने त्याग दिये हैं?

"दीनानाथ—उनके हृदय में भी कीर्ति श्रवण का स्वार्थ बना रहता है। सर्व साधारण से ऊँचे उठने का जो उद्योग करता है, उस पर सर्व साधारण की दृष्टि लगी रहती है। कोई किसी को, जहाँ तक उससे हो सकता है, अपने से ऊपर नहीं उठने देना चाहता, अतः ऐसे मनुष्यों का सदा छिद्रान्वेषण होता है। कुछ स्वार्थी कभी कभी इनके विरुद्ध मिथ्या अपवाद भी फैला देते हैं, चूंकि आज संसार में बुराइयों से युक्त ही अधिक मनुष्य हैं, अतः इस प्रकार के मिथ्या अपवादों पर सर्वसाधारण को शीघ्र ही विश्वास हो जाता है। जिनमें अपनी कीर्ति सुनने का स्वार्थ विद्यमान है, ऐसे विषय भोगों को भी सचमुच त्याग देनेवाले व्यक्ति अपनी अकीर्ति श्रवण न कर सकने के कारण पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। पर स्वार्थ है कमला, स्वार्थ। ..... जो मेरी अकीर्ति हुई है इसे मैं एक प्रकार की परीक्षा मानता हूँ, कमला, यह भी मेरे पथ की एक सीढ़ी थी। हृदय में निर्बलता अवश्य आयी, पर विवेक ने.....

"कमला—मैं क्या कहूँ, आपके स्वार्थ त्याग का पथ ही अद्भुत है। अभी और भी सीढ़ियाँ शेष होंगी?

"दीनानाथ— यह मैं कैसे कह सकता हूँ ? जब मैंने इस पथ पर चलना आरम्भ किया, तब इसमें कितनी सढ़ियाँ हैं, यह मुझे कहाँ दिखता था ? पहले मैं इस पथ पर चलने के लिए विषय भोग का त्याग ही यथेष्ट समझता था, पर उसके पश्चात् तो न जानें कितनी परीक्षायें देनी पड़ीं, कितनी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ीं। एक इन्द्रिय ने विप्लव किया है, छोड़ी हुई वासनाओं का सुख स्मरण आया है, तुम्हारे और बच्चों के कष्ट ने सताया है, कदाचित् इसीलिए विवाह की इच्छा न रहते हुए भी विवाह हुआ था। अनेक लोगों ने एवं अनेक अभिन्न मित्रों तक ने मेरे पथ की नाना प्रकार की आलोचनाएँ की हैं, हँसी उड़ायी हैं।

"कमला—पर फिर भी आपने अपना पथ परिवर्तित कहाँ किया ?

"दीनानाथ—हाँ परिवर्तित तो नहीं किया, पर अनेक बार हृदय में सन्देह अवश्य उत्पन्न हुआ कि मेरा पथ ठीक है या सचमुच ही ठीक नहीं है। अनेक बार भासित हुआ कि यह तो ऐसा पथ है कि जिस पर मैं अकेला ही चल रहा हूँ, कोई साथी तक नहीं। ऐसे अवसरों पर घने जंगल में एक सकरी पगदंडी पर चलने वाले अकेले पथिक की जो दशा होती है, वही मुझे भी अपनी जान पड़ी। ... (कुछ रुक जाता है।) परीक्षाओं को देने के समय, इन सब सीढ़ियों पर चढ़ने के समय हृदय ने इस प्रकार की निर्बलता नहीं दिखलायी। जब कीर्ति गई और अपयश हुआ तब हृदय भी एक बार निर्बल हो गया। हर्ष की बात है

कमला, कि विवेक ने अन्त में इस परीक्षा में भी उत्तीर्ण करा दिया, इस सीढ़ी पर भी चढ़ा दिया। (कमला सिर हिलाती है।) जिस प्रकार सोने की परीक्षा के लिए काली कसौटी है, उसी प्रकार हृदय की परीक्षा के लिए भगवान ने कदाचित् ये बाधाएँ बनायी हैं। बिना सान पर चढ़ाये जिस प्रकार रत्न में दीप्ति नहीं आती उसी प्रकार बिना परीक्षाओं के हृदय भी कदाचित् प्रकाशित नहीं हो सकता।

"दीनानाथ—.....ठहरो, ठहरो, कमला, तुमने देखा मेरे हृदय का स्वार्थ? पहिचाना इस स्वार्थ को? स्वार्थ! ओह! (सिर हिलाकर) यह स्वार्थ बड़ी अद्भुत वस्तु है। ..... सुनो मुझे शक्तिपाल और उसके दल की हार से हर्ष हुआ है। मैं तो चुनाव में खड़ा नहीं हुआ था, न मेरा कोई दल ही था, तुम कहोगे मेरा प्रत्यक्ष तो कोई स्वार्थ नहीं था।

"दीनानाथ—ठीक है, पर इसमें मेरा सूक्ष्म स्वार्थ था और उसका एक आधार है। जब शक्तिपाल एल-एल. बी. पास हुए थे उस समय इस बात पर वादविवाद हो गया था कि मुझे क्या करना चाहिए। शक्तिपाल ने मेरे इस त्यागपूर्ण दीन सेवा के सेवा-पथ को निरर्थक बता, राजनैतिक सत्ता द्वारा साम्यवाद की स्थापना करना अपना सेवापथ बताया था। उनका मत था कि व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागपूर्ण जीवन और दीनों की सेवा से कुछ नहीं हो सकता, और मेरा मत था कि हर बात के लिए सबसे पहले व्यक्तिगत जीवन के स्वार्थ त्यागपूर्ण होने

एवं जब तक दीन दुःखी हैं तब तक उनकी सेवा करने की आवश्यकता है। आज जब शक्तिपाल और उनका दल हार गया तब मुझे इसलिए हर्ष हुआ कि एक प्रकार से उनका मत हारा। विषय वासनाओं के त्याग के पश्चात् अपनी अकीर्ति सुनकर मुझे दुःख हुआ था, क्योंकि कीर्ति सुनने का मेरा स्वार्थ मेरे हृदय में शेष था। अब अपने विरुद्ध मत की हार सुन मुझे हर्ष हुआ है, क्योंकि मेरा मत ही सर्वोत्तम सिद्ध हो, इसका मुझे स्वार्थ है।

"एक युवक—परन्तु पिता जी, अपने मत को सर्वोच्च सिद्ध करने का यत्न किए बिना, उस मत के द्वारा संसार की सेवा कैसी हो सकती है?

"दीनानाथ—अपने मत के प्रचार का प्रत्येक को अधिकार है, पर दूसरे का मत मेरे मत से नीचा है और दूसरे के मत की हार होकर मेरे मत की विजय हो, यह प्रवृत्ति उस मत में आसक्ति है। संसार के सम्मुख सर्वोत्तम मत आते ही, वह स्वयं उसे ग्रहण कर लेता है। तुम लोगों को ये बातें बहुत छोटी छोटी मालूम होती होंगी पर हृदय की ये छोटी छोटी प्रवृत्तियाँ यथार्थ में बहुत बड़ी शक्तियाँ हैं। इनके अव्यक्त रहने के कारण ये स्थूल दृष्टि से महत्व की नहीं दिख पड़तीं, पर संसार में विद्युत, वाष्प आदि अव्यक्त शक्तियों के समान ही ये भी बड़ी ही प्रबल होती हैं। यह स्वार्थ बड़ी सूक्ष्म, प्रबल और अव्यक्त शक्ति है, अब तक मैं स्वार्थ पर विजय प्राप्त नहीं कर सका हूँ,

अभी तक यह परास्त नहीं हुआ है। न जानें इस पथ में अभी तक कितनी सीढ़ियाँ शेष हैं, न जानें अभी मुझे कितनी परीक्षाएँ और देनी हैं। हाँ इतना अवश्य है कि यात्रा लम्बी उसे ही जान पड़ती है जो थक गया हो। मैं अपनी यात्रा से अभी थोड़ा भी थकित नहीं हुआ हूँ, थोड़ा भी नहीं।

"दूसरा युवक—पिता जी, जैसे आप हो गये हैं वैसे हो जाने पर भी आप सदा अपने में दोष ही देखा करते हैं।

"दीनानाथ—(कुछ सोचते हुए) हाँ, क्योंकि मैं सबसे बड़ा दोष अपने में दोष न देखने को समझता हूँ।"

इस प्रकार का सेवक अपने पथ का सच्चा पथिक होने पर किस स्थान का अधिकारी हो जाता है इस सम्बन्ध में भी 'सेवा-पथ' का एक उद्धरण दिया जाता है—

"सरला—बहन, तुम्हारे पति माया के प्रतिद्वन्दता जगत से ईश्वरी शांति लोक में पहुँच गये हैं।

"कमला—अच्छा।

"सरला—इस लोक की यात्रा उन्होंने मन, वचन, और कार्य के संयोग से अपने आपको वश में रख, दैहिक और मानसिक पवित्रता एवं निष्काम प्रेम सहित, सेवा के मार्ग द्वारा की है। दूसरों के उद्धार का प्रयत्न करते करते उनका स्वयं का उद्धार आपसे आप हो गया है, उसके लिए सोचने का भी स्वार्थ उन्हें नहीं रखना पड़ा। इस मार्ग में चलते हुए उन्होंने अपने और

अपने कुटुम्ब के आधिभौतिक सुख रूपी कंटकों को पूर्ण किया है। समाज की आलोचना, हँसी और निंदारूपी दीवालों का लंघन किया है। इस यात्रा के लिए बिदा के समय वे अकेले थे...

"कमला—इसमें कोई सन्देह नहीं, बिल्कुल अकेले थे, कई बार स्वयं कहते थे कि इस पथ में कोई भी मेरा पथिक नहीं।

"सरला—पर उन्हीं अकेले को, जिनकी सेवा वे करना चाहते थे, उन्हें प्रेम के कारण अपना ही रूप दिखायी देने लगा और इस प्रकार उन्होंने पहचान लिया कि मुझमें और सारी सृष्टि में उसी एक ईश्वर का निवास है, जिसके ज्ञान के पश्चात् कोई कभी अकेलेपन का अनुभव ही नहीं कर सकता।

"कमला—क्या विशद-कल्पना है।

"सरला—यही जीवन-मुक्त की अवस्था है बहन; यही शांति का लोक है, इस लोक की चारों दिशाएँ प्रेम हैं, जो सत्य के चन्दवे से ढकी हैं, दृढ़ता इस लोक की पृथ्वी है; निस्वार्थ सेवा की यहाँ पवन चल रही है और सच्चे एवं स्थायी सुख का गान हो रहा है।"

दार्शनिक नाटक

'विकास' और 'नवरस' नाटकों को 'दार्शनिक' के अतिरिक्त और कदाचित् कुछ नहीं कहा जा सकता।

विकास

'विकास' में यह सृष्टि विकास के पथ से उन्नति कर रही है या चक्रवत घूम रही है, इस विषय का मार्मिक और साथ ही सुन्दर विवेचन है। यह स्वप्न नाटक है। आरम्भ में एक आधुनिक शयन गृह दिखता है जिसमें दो पलंगों पर एक युवक और एक युवती सोते हुए दिखायी देते हैं। शयन गृह लुप्त होकर क्षितिज दिखायी देता है और निम्नलिखित गायन सुन पड़ता है—

"अहो! यह प्रकृति—बाल छबिवान।
सतत नियति से निश्चित इसका पतन और उत्थान"

यह गायन गाते हुए पृथ्वी से एक युवती निकलती है। यह पुष्पों से सुसज्जित है। कुछ ही देर में गायन का दूसरा स्वर सुनाई देता है—

"शैशव को अतिक्रान्त कर चढ़ विकास सोपान।
ज्ञान उच्चतम शिखर को प्रकृति नित्य गति मान॥"

यह गायन गाते हुए आकाश से एक युवक उतरता है। वह सितारों से सुसज्जित है। युवती पृथ्वी का मूर्तिमन्त रूप है और युवक आकाश का। दोनों में इस विषय पर वादविवाद आरंभ होता है कि सृष्टि विकास के पथ से उन्नति कर रही है, या चक्रवत घूम रही है। आकाश स्वयं उन्नत होने के कारण सृष्टि विकास के पथ से उन्नति कर रही है, यह कहता है और पृथ्वी स्वयं चक्रवत घूमने के कारण सृष्टि चक्रवत घूम रही है, यह कहती है। दोनों का यह संवाद श्रवण करने योग्य है—

"आकाश—देखो प्राणेश्वरी, इस सृष्टि में सर्वप्रथम मेरी उत्पत्ति हुई है। मुझसे वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से तुम्हारे पृथ्वी तत्व की उत्पत्ति होकर फिर समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। मैंने सृष्टि की आरम्भिक अवस्था देखी है और उसके पश्चात् उसके उत्तरोत्तर विकास का अवलोकन किया है। मैंने देखा है कि हम पाँचों तत्वों से किस प्रकार तुम्हारा स्थूल स्वरूप और (उँगली घुमा तारागणों की ओर सङ्केत कर) तुमसे न जाने कितने गुने बड़े आकार के वे तुम्हारे बन्धुगण, अगणित सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और भूमण्डल उत्पन्न हुए हैं। अन्य भूमण्डलों के विकास का वृत्त न बता मैं तुम्हारी सृष्टि के विकास का ही तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ क्योंकि वही तुम्हारे अधिक समझ में आवेगा। क्या तुम भूल गयी कि किस विधि से तुम्हारा

दारुण ताप शनैः शनैः शीतल हुआ और किस क्रम से तुम्हारे सागर, पर्वत, नदियों आदि का निर्माण हुआ ? क्या तुम्हें यह भी स्मरण नहीं है कि कैसे तुम्हारी उद्भिज सृष्टि की उत्पत्ति हुई और फिर तुम्हारे सागर से किस भाँति साकार और चेतन जीव-सृष्टि का आरम्भ हुआ ? तुम्हें याद होगा कि उस जीव सृष्टि में शनैः शनैः कैसे मत्स्य, कूर्म, वाराह और नृसिंह के स्वरूप बन तुम्हारी सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य का वामन रूप से प्रादुर्भाव होकर उस मनुष्य का किस विधि से मानसिक और शारीरिक विकास हुआ। मनुष्य ने सृष्टि की सबसे प्रधान बात जो सृष्टि की एकता है, उस तक का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। प्रिये ! प्राणाधिके ! सृष्टि की आदि और वर्तमान अवस्था के अन्तर का मुझे ज्ञान है। सारी सृष्टि उन्नति की ओर जा रही है, अवश्य उन्नति की ओर जा रही है।

"पृथ्वी—तुमसे मैं थोड़ा ही कम जानती हूँ प्रियतम, क्योंकि मेरी उत्पत्ति के पश्चात् ही अधिक विकास हुआ है। सूक्ष्म के विकास के लिए स्थूल ही तो साधन है। इसीलिए बिना मेरे, विकास का कार्य आगे न बढ़ सकता था। मनुष्य की उत्पत्ति तक अपनी सृष्टि के विकास को मैं भी स्वीकार करती हूँ। यह भी मैं अस्वीकार नहीं करती कि उत्पत्ति के पश्चात् कुछ काल तक मनुष्य ने भी अपनी उन्नति की थी।

"आकाश—अभी भी मनुष्य अपनी उन्नति कर रहा है।

"पृथ्वी—नहीं, अब उसकी अवनति आरम्भ हो गयी है।

"आकाश—यह कैसे ?

"पृथ्वी—देखो प्राणेश, अन्य प्राणियों से मनुष्य में जो विशेषता है वह उसकी ज्ञान शक्ति ही है न ?

"आकाश—अवश्य ।

"पृथ्वी—इस ज्ञान-शक्ति के द्वारा ही तो मनुष्य ने सृष्टि की सबसे प्रधान बात—समस्त सृष्टि की एकता को जाना है ।

"आकाश—निस्सन्देह ।

"पृथ्वी—परन्तु इस एकता को जानने के पश्चात् जो यह आशा की जाती थी कि मनुष्य के हृदय में प्रेम का प्रादुर्भाव होगा, प्रेम-द्वारा वह समस्त सृष्टि को अपने समान ही मान सभी को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करेगा और इस प्रयत्न में उसे सच्चा सुख मिलेगा, वह आशा निराशा में परिणत हो गयी ।

"आकाश—यह कैसे ?

"पृथ्वी—उसमें जो पाशविकता है, उसके कारण सामूहिक रूप से वह इस ज्ञान का भी अनुभव न करने के कारण उसके कर्म कभी भी इस ज्ञान के अनुरूप नहीं हुए । उसकी सभी कृतियाँ अपने, पराये और असमानता के भावों से भरी हुई हैं । अन्य को सुख देने से उसे सुख का अनुभव होना तो दूर रहा, अपने लिए वह दूसरों को कष्ट दे रहा है । स्वार्थवश सभी, अपने अपने साढ़े तीन हाथ के शरीरों की इन्द्रियों को तृप्त करने में लगे हुए हैं, आधिभौतिक सुखों में निमग्न हैं ?

"आकाश—किन्तु प्रिये, तुमने अभी कहा ही कि विकास के लिए स्थूल अनिवार्य है, जिसे मैं भी मानता हूँ, अतः शरीर की रक्षा के लिए आधिभौतिक पदार्थ आवश्यक होते हैं।

"पृथ्वी—इस आवश्यकता की पूर्ति उन्हें साधन मानकर करना एक बात है परन्तु आधिभौतिक सुखों को ही साध्य मान उन्हीं के लिए लालायित रहना सर्वथा दूसरी बात है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितनी आधिभौतिक वस्तुओं की आवश्यकता है वह दूसरे को कष्ट दिये बिना सहज में प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु मनुष्य अपनी पाशविकता के कारण उससे कहीं अधिक के लिए इच्छुक रहता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह दूसरों को लूटने के लिए कटिबद्ध होता है। इसी स्वार्थ के कारण ही मेरी सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणियों का समाज भी लूट-मार और रक्तपात से भरा हुआ है। चूँकि मेरी सृष्टि में मनुष्य से उन्नत कोई प्राणी उत्पन्न नहीं हुआ और चूँकि मनुष्य अपने अब तक के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का अनुभव कर उसके अनुरूप कर्म न कर सका अतः मेरा विश्वास है, कि मनुष्य और उसके संग मेरी सृष्टि की अवनति का आरम्भ हो गया है। तुम जानते ही हो कि या तो किसी वस्तु की उन्नति होगी या अवनति। स्थिर अवस्था में कोई वस्तु रह ही नहीं सकती। यह तुम भी स्वीकार करते हो कि समाज सृष्टि एक ही नियम से शासित होती है, अतः जो मेरी दशा है वही अन्य भूमण्डलों की होगी (कुछ रुक कर) नहीं नहीं, होगी क्या, है

ही। तुमने ही कहा कि सभी भूमण्डल मेरे सदृश गान गाया करते हैं। हाँ, मैं यह नहीं कहती कि फिर उन्नति न होगी क्योंकि अवनति की अन्तिम अवस्था नाश है। किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं हो सकता, अतः जिस वस्तु का नाश दिखता है किसी अन्य रूप से उसकी पुनः उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के पश्चात् पुनः पतन होता है। इस प्रकार हर वस्तु प्रथक् एवं सामूहिक दोनों ही रूप से चक्र में घूम रही हैं? इस समय मनुष्य और उसके सङ्ग मेरी सृष्टि अवनति की ओर अग्रसर है, अवश्य अवनति की ओर अग्रसर है।

"आकाश—किन्तु प्राणाधिके, हर वस्तु को प्रथक् रूप में देखने से ही उसका चक्रवत घूमना दिखता है। सामूहिक रूप से तो सृष्टि उन्नति की ओर अग्रसर है। मनुष्य जाति को सामूहिक दृष्टि से देखा जाय तो मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य सृष्टि की एकता के अपने ज्ञान का अनुभव नहीं कर रहा और उसके कर्म इस ज्ञान के अनुरूप नहीं हो रहे हैं। अन्य विकासों के अनुसार शनैः शनैः इस दृष्टि से भी उसका मानसिक विकास हो रहा है। आवश्यकता से अधिक आधिभौतिक सुखों की वासना जिस पाशविकता के कारण होती है उसका वह दमन कर रहा है, इसीलिए अपने आधिभौतिक सुखों के लिए अन्य को कष्ट देने की प्रवृत्ति मिट रही है, वरन् अन्य को सुख देने में उसे सुख मिलने लगा है। आज जो अभूतपूर्व आधिभौतिक

आविष्कार हो रहे हैं, विज्ञान की जो धूम मची हुई है, वह मनुष्य का संसार को सामूहिक रूप से सुख देने का प्रयत्न है।

"पृथ्वी—कहाँ? पहले यदि एक व्यक्ति अपनी आधिभौतिक वासनाओं की तृप्ति के लिए दूसरे व्यक्ति को कष्ट देता था तो आज एक समाज दूसरे समाज को, एक देश दूसरे देश को कष्ट पहुँचा रहा है। इन सब आधिभौतिक और वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग संसार के सामूहिक सुख के लिए न होकर सामूहिक नाश के लिए हो रहा है।

"आकाश—इन भावनाओं के परिवर्तन का प्रयत्न भी आरम्भ हो गया है। मनुष्य की दृष्टि जाति-प्रेम और देश-प्रेम से हटकर विश्व-प्रेम की ओर जा रही है। विश्व-बन्धुत्व के भावों का प्रसार हो रहा है। इन भावों का पूर्ण साम्राज्य होने पर लूटमार और रक्तपात का अन्त हो जायगा, मनुष्य वर्ग के नाश का भय न रहेगा और वह अपने ज्ञान और विज्ञान की निश्चिन्तता से उन्नति कर सकेगा। पहले तुम्हारा समस्त मानव-समाज प्रेम के एक सूत्र में बँधेगा। फिर वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा अन्य भूमण्डलों में रहने वाली योनियों से वह सम्बन्ध स्थापित करेगा। मैं जानता हूँ कि अन्य भूमण्डलों में भी यही प्रयत्न चल रहा है। इस प्रकार समस्त भूमण्डलों की यह एकत्रित शक्ति अपने ज्ञान और विज्ञान-द्वारा एक दूसरे को सुख पहुँचा सच्चे तथा तथा स्थायी आध्यात्मिक और आधिभौतिक सुख को प्राप्त कर सकेगी। मानव-समाज को प्रेम-सूत्र

में बाँधने का सर्वप्रथम व्यापक प्रयत्न तुम्हारे संसार के भारत-देश में हुआ था। यह प्रयत्न मगध के कपिलवस्तु नगर के जिस राजकुमार सिद्धार्थ ने किया था, तुम्हीं को तो उनके धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था धरिणी। तुम मनुष्य की जिस पाशविक वृत्ति को उसका नाशकारक दुर्गुण मानती हो उसे सिद्धार्थ ने जीत, सृष्टि की एकता का अनुभव कर, उसके अनुरूप कर्मों द्वारा, मनुष्यों को जिस आचार प्रधान धर्म्म की मुख्यता बता, संसार की जिस प्रकार सेवा की थी, वह तुम्हें याद है या नहीं ? तुमको इस निराशामय कोहरे से बाहर निकालने के लिए मेरी तो आज यह इच्छा होती है कि मैं एक बार तुम्हें, तुम्हारी सृष्टि के इन महा प्रयत्नों के कुछ दृश्य दिखाऊँ।

"पृथ्वी—दिखाओ गगन, दिखाओ, परन्तु उसके पश्चात् मैं भी जो कुछ दिखाऊँगी उसे तुम को भी देखना होगा।

"आकाश—"हाँ हाँ; अवश्य देखूँगा, अवश्य।"

अब आकाश पृथ्वी को गौतम बुद्ध के वैभव; वैराग्य, बुद्ध गया में तपस्या और बुद्ध पद प्राप्ति तथा सारनाथ में उपदेश आदि के दृश्य दिखाता है। इसके पश्चात् अशोक के समय बौद्ध मत का जिस प्रकार प्रचार हुआ वे दृश्य भी अशोक की सभा के सहित दिखाता है।

पृथ्वी ये सब दृश्य चाव से देखने के पश्चात् बौद्धमत का

जिस प्रकार पतन हुआ और बौद्धमठों से वाम मार्ग की जिस प्रकार उत्पत्ति हुई वे दृश्य दिखाती है।

इन दृश्यों को देख कर आकाश कहता है—

"आकाश—देखो, प्राणेश्वरी, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों को प्रथक् प्रथक् रूप से देखने पर उनका जन्म, विकास और क्षय दिख पड़ता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न मतादिकों को यदि प्रथक् रूप से देखा जाय तो उनकी भी उत्पत्ति, विकास और क्षय दिख पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि प्रथक् प्रथक् पदार्थों की उत्पत्ति के पश्चात उनका कार्य समाप्त हो जाने पर उनके स्वरूप का अन्त होता ही है। जब बौद्ध मत सृष्टि को उन्नत करने का अपना कार्य कर चुका तब उसका पतन हो गया। परन्तु सामूहिक रूप से तो सृष्टि उन्नति की ओर ही जा रही है और इस पतन से सृष्टि की सामूहिक उन्नति न रुक जाय इसलिए इस पतन के बहुत पहले तुम्हारे ही संसार में महात्मा ईसा मसीह ने जन्म ले लिया था। उनके मत का प्रसार भी होने लगा था। महात्मा ईसा ने संसार के उपकार के लिए जिस प्रकार अपने प्राणों तक की आहुति दे दी वह भी तुम भूल गई दिखती हो। जान पड़ता है, ईसा के समय का स्मरण दिलाने के लिए मुझे तुम्हें उनके समय के भी कुछ दृश्य दिखाने होंगे।"

अब आकाश पृथ्वी को ईसा के चालीस दिन के उपवास, शैतान के उसे संसार के भिन्न भिन्न देशों की संपदा दिखा उसके प्रलोभन, ईसा के गिरि-प्रवचन और ईसा की सूली आदि

के दृश्य दिखाता है। इसके पश्चात् ईसाई धर्म्म प्रचार के लिए ईसाइयों के अगणित त्याग तथा रोमन सम्राट कान्सटैन्टाइन द्वारा ईसाई धर्म्म के राजधर्म्म होने के भी दृश्य दिखाता है।

इन सब दृश्यों के देखने के पश्चात् पृथ्वी कहती है—

"पृथ्वी—जिन ईसाइयों को ईसा ने यह उपदेश दिया था कि यदि कोई दाहने गाल पर चपत मारे तो दूसरा गाल भी उसके सम्मुख कर दो, वे ईसाई ईसा के १९१४ वर्ष पश्चात् परस्पर किस प्रकार लड़े, यह तो हाल की बात है। यों तो गिनती के मनुष्यों को छोड़ अपने को ईसाई कहने वाले सभी ईसाई सदा ही ईसा के उपदेशों के विरुद्ध चलते रहे हैं, किन्तु इस संग्राम में तो उन्होंने अपने पतन की पराकाष्ठा दिखा दी।"

अब पृथ्वी सन् १९१४ के युद्ध के भीषण दृश्य आकाश को दिखाती है।

इन दृश्यों के देखने के पश्चात् आकाश कहता है—

"आकाश—देखो, प्रिये! मैंने तुम से कहा ही है कि हर वस्तु के पृथक् पृथक् देखने से उन्नति और अवनति दोनों ही दिख पड़ती हैं परन्तु सामूहिक दृष्टि से सृष्टि उन्नति की ओर ही अग्रसर है। बौद्धमत के समान ईसाई धर्म का कार्य समाप्त हो जाने पर उसका भी पतन हो गया, किन्तु सामूहिक रूप से सृष्टि की उन्नति न रुक जाय इसलिए तुम्हारे भारत देश में महात्मा गान्धी ने जन्म लिया है। यह देखकर कि केवल धर्म प्रचार से मानव समाज अपने ज्ञान के अनुसार कर्म नहीं कर

सकता, केवल इतने ही से प्रेम का साम्राज्य और अहिंसा की स्थापना नहीं हो सकती, उन्होंने राजनीति में भी प्रेम और अहिंसा को प्रधान स्थान दिया है। अभी पन्द्रह वर्ष पूर्व जिस प्रकार का मानव संहार हुआ उसके लिए राजनीति उत्तरदात्री है। महात्मा गान्धी ने उसी का सुधार आरम्भ कर दिया है। फिर गान्धी के कार्य-क्रम में एक और विशेषता है।

"पृथ्वी—वह क्या ?

"आकाश—तुम्हीं ने अभी कहा था न कि मनुष्य कहता है कि उसने यह घोर युद्ध भी अन्धाय का दमन और न्याय की विजय के लिए ही किया है ?

"पृथ्वी—हाँ, कहता तो वह यही है।

"आकाश—नहीं, प्राणाधिके ! यह केवल कहने की ही बात नहीं है। न्याय ने अन्याय को पाशविक बल के उपयोग से ही जीता है। गान्धी ने अन्याय पर विजय प्राप्त करने के लिए एक नवीन मार्ग 'सत्याग्रह' का अनुसन्धान किया है। इसमें पाशविक बल नहीं, किन्तु आत्मिक बल की आवश्यकता है। संसार के अब तक के इतिहास से यही सिद्ध होता है कि जो आज अपने को न्यायशाली कह पाशविक बल का उपयोग कर अन्यायियों का दमन करते हैं वे स्वयं समय पाकर अन्यायी हो जाते हैं। गान्धी के मार्ग में यह बात हो ही नहीं सकती। गान्धी से सम्बन्ध रखने वाले दृश्य अत्यन्त नवीन हैं, अतः उनके स्वरूप का स्मरण मात्र दिला कर उनसे सम्बन्ध रखने

वाले दृश्य दिखा तुम्हारा समय मैं व्यर्थ के लिए नष्ट नहीं करना चाहता।"

महात्मा गान्धी का विशाल चित्र दिखता है, पर आकाश और पृथ्वी का मतभेद नहीं मिटता। पृथ्वी फिर अपने उसी गान को गाते हुए लुप्त होती है और आकाश अपने गान को गाते हुए अन्तर्ध्यान।

क्षितिज का दृश्य लुप्त होकर फिर शयनागार दृष्टिगोचर होता है। सोता हुआ युवक एकाएक अपनी आँखें मलता हुआ उठ बैठता है और युवती के पलँग के पास जाकर उसे जगाता है—

"युवक—उठो, उठो, प्रिये, उठो तो; मैंने आज बड़ा अद्भुत स्वप्न देखा है।"

युवती चौंक कर उठ बैठती है और कहती है—

"युवती—देखो, प्रियतम, यह तुम्हारी बड़ी जबर्दस्ती है। रात को सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर जा रही है या चक्रवत घूम रही है इस पर वादविवाद करते करते आधी रात बिता दी और अब स्वप्न सुनाने ..... ।"

यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

यह नाटक 'फोटो प्ले' के रूप में लिखा गया है और यदि इसका फिल्म बना तो वह केवल भारतीय नहीं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की चीज़ होगी।

नवरस नाटक में नवरस पात्रों के रूप में काम करते हैं।

नवरस

वीर वीरसिंह, उग्र उग्रसेन, अद्भुत अद्भुतचन्द्र, भयानक भीम और वीभत्स ग्लानिदत्त नाम से पुरुष पात्र हैं। शान्त शान्ता, शृंगार प्रेमलता, करुणा करुणा और हास्य लीला के नाम से स्त्री पात्र हैं। अपने अपने कथन और कार्य में इन रसों का सुन्दर और स्वाभाविक प्रादुर्भाव हुआ है। इस नाटक में सशस्त्र युद्ध पर सत्याग्रह की विजय दिखायी गयी है और उग्ररस से रहित होकर वीररस वीरसिंह का शृंगार रस प्रेमलता के साथ विवाह होकर नाटक की समाप्ति होती है। विचित्र कल्पना है, और इस कल्पना को चित्रित करने में गोविन्ददास जी को पूरी सफलता मिली है। इस नाटक के भी उद्धरण छाँटना कठिन है, परन्तु फिर भी नमूने के लिए केवल दो उदाहरण दिये जाते हैं—

अद्भुत रस अद्भुतचन्द्र और भयानक रस भीम का एक संवाद सुनिए—

"अद्भुतचन्द्र—ईश्वर भय से राज्य कर रहा है?

"भीम— ... मृत्यु क्या है? ईश्वरी भय का मूर्तिमन्त स्वरूप। ईश्वर रचित दो विशाल नैसर्गिक वस्तुओं-आकाश और समुद्र में क्या हो रहा है? आकाश में विद्युत और मेघ गर्जन युक्त झंझावात पहले आता है फिर उससे पानी बरसता है। समुद्र की ऊँची ऊँची थपेड़ों से पहले सामना करना पड़ता है तब कहीं उसमें से आवागमन हो सकता है, मुक्ता आदि

रत्न निकलते हैं। सारे देशों के धर्म शास्त्रों में नरक का भय दिखाया गया है, जिससे मनुष्य समाज नीति पर चलता है और उसमें व्यवस्था बनी हुई है। ..... भय प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उसका फल निश्चित रहता है और आप लोगों का कार्य केवल बड़ी बड़ी आशाओं से पूर्ण। आशा कभी प्रत्यक्ष नहीं रहती और न उस दिशा में किये गये कार्यों का फल ही निश्चित रहता है। मैं प्रत्यक्ष और निश्चित वस्तु चाहता हूँ। युद्ध ऐसा ही है। वह प्रत्यक्ष है और उसका फल निश्चित है—जीत या मृत्यु। इसीलिए वह भयानक है। आप ऐसी कोई वस्तु संसार में बता सकते हैं जो भयानक न होने पर निश्चित हो?

(भीम उसके मुख की ओर देखता है। अद्भुतचन्द्र कुछ सोचता है।)

"भीम—अजी सोचते क्या हैं? कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं। विष का फल निश्चित है क्योंकि वह भयानक है। सबसे निश्चित वस्तु मृत्यु है और वह सबसे भयानक है। मृत्यु के सम्मुख सारी काल्पनिक वस्तुएं, सूर्य के सम्मुख तारा-गणों के सदृश अस्त हो जाती हैं। उसके सम्मुख कोई दूसरी वस्तु ठहर ही नहीं सकती क्योंकि वह भयानक है। संसार में बस भय की आवश्यकता है, केवल भय की।

"अद्भुतचन्द्र—पर मुझे यह निश्चितता ही पसन्द नहीं।

"भीम—क्योंकि आप लोग कायर हैं।

"अद्भुतचन्द्र—नहीं, नहीं; इसलिए नहीं सेनापति जी! सच्चा हार्दिक आनन्द ही अनिश्चितता से प्राप्त हो सकता है,

निश्चितता से नहीं। संसार का सारा विकास अनिश्चितता पर अवलम्बित है निश्चितता पर नहीं। जहाँ निश्चितता की अवस्था आयी कि विकास रुका।

"भीम—कैसे ?

"अद्भुतचन्द्र—तभी तक विकास होता है, जब तक यह भावना रहती है कि न जाने अभी कितनी बातों का और पता लगेगा। जहाँ यह भावना गयी कि विकास भी गया। विकास में अद्भुतता है भय में नहीं। मृत्यु में निश्चितता है यह मैं मानता हूँ, परन्तु उसकी निश्चितता और भयानकता भी तो स्वयं अपने को मार लेने से अधिक है। फिर आप वह क्यों नहीं कर लेते ?

"भीम—वह अवश्य अधिक निश्चित और अधिक भयानक है, परन्तु स्वयं मरने के पश्चात् मैं उसे देख नहीं सकता। अतः चाहे दूसरे के लिए वह अधिक भयानक दृश्य हो, पर मेरे लिए नहीं। यदि आप मुझे ऐसी कोई विधि बतायें कि मैं स्वयं अपने को मारकर अपना मरना देख सकूँ, तो दूसरों को मारने की अपेक्षा पहिले मैं यही करूँ।

"अद्भुतचन्द्र—आह ! आप भी मेरे स्थान पर आ गये। आप भी भविष्य में दूसरों की मार सकने की अनिश्चित आशा पर ही तो जीवित रहते हैं। सेनापति जी ! अनिश्चित अवस्था में रहना ही जीवन है, निश्चित में नहीं। अन्तर इतना ही है कि आप दूसरों के मारने की भयानक आशा पर

जीते हैं और मैं दूसरे के सुख के लिए कल्पना कारी वस्तुओं की उत्पत्ति की अद्भुत आशा पर। ..... पर मनुष्य का हाल ही कितना है सेनापतिजी ! इस सारे विश्व में, इस अनन्त आकाश में, चमकते हुए इन असंख्य तारा गणों के मध्य सूर्य एक गेंद सा दिखायी देता है। इस सूर्य मण्डल के अनेक ग्रहों और उपग्रहों के मध्य यह पृथ्वी एक क्षुद्र बिन्दु के समान है। फिर पृथ्वी और उससे कई गुना बड़ा सूर्य ही कौनसी वस्तुएँ हैं ? न जाने और कितने सूर्य एवं नक्षत्र इस सूर्य से भी कई गुने बड़े हैं और कई का तो अभी तक पता नहीं लगा है। इस पृथ्वी पर ही देखिये—गरजता हुआ महा-सागर, महा-हिमालय, अनेक भारी भारी पर्वत और सरिताएँ, अनेक मरुस्थल और अरण्य, ह्वेल मछली के सदृश जलचर और हाथियों के सदृश थलचर हैं। इन सबके सम्मुख मनुष्य क्या है ? विद्युत का एक छोटासा कण, पृथ्वी का एक क्षुद्र कंप, सागर की एक क्षुब्ध कल्लोल एक मनुष्य क्या, न जाने कितने को नष्ट कर सकते हैं। वहाँ सेनापतिजी ! आपके बल की ही क्या, संसार में किसी के भी बल की चर्चा, उसपर गर्व, निरर्थक बात है।

"भीम—यह तुलना आप समान वस्तुओं की नहीं कर रहे हैं मन्त्री जी ! तुलना सदा समानता में हुआ करती है। मनुष्यों का मिलान जड़ पदार्थों और पशुओं से नहीं किया जा सकता। मनुष्य छोटा है तो क्या हुआ। उसने इस सारी पृथ्वी को

अपने अधिकार में कर रखा है। ग्रहों तक को अधिकृत करने की बात सोच रहा है और इन ग्रहों में भी कदाचित् मनुष्य हों और वे ग्रह मनुष्य के ही अधिकार में हों, किसने अब तक देखा है? बड़े बड़े पशु मनुष्यों के बाहन हैं। वह इस विश्व की विशालता देख भयभीत नहीं हो सकता। हाँ, अपने आविष्कारों से संसार को भयभीत अवश्य करना चाहता है। फिर इन जड़ वस्तुओं की विशालता में इच्छा स्वतन्त्र नहीं है; परन्तु मनुष्य की अल्पता में इच्छा स्वातन्त्र का साम्राज्य है। सूर्य, ग्रह, पृथ्वी, वायु इच्छानुसार कोई कार्य नहीं कर सकते। क्या ये चाहें तो एक क्षण को भी अपनी गति से रोक सकते हैं?

"अद्भुतचन्द्र—मेरा कहने का केवल इतना ही अभिप्राय था सेनापतिजी! गर्व करना वृथा है। ईश्वरी शक्ति अद्भुत है।"

अद्भुत रस अद्भुतचन्द्र और हास्यरस लीला का एक कथोपकथन सुनिए—

"अद्भुतचन्द्र—हाँ राजकुमारी! इसमें तो सन्देह नहीं। (कुछ ठहर कर) एक निवेदन आप से करना है।

"लीला—अवश्य कीजिये मन्त्री जी।

"अद्भुतचन्द्र—पर वह निवेदन तब करूँ जब आप यह वचन दे देवें कि जब तक मेरी अनुमति न हो जायगी, उसे आप किसी से कहेंगी नहीं।

"लीला—आप जानते हैं मन्त्री जी! मैं किसी बात को इतनी महत्वशाली या आवश्यक समझती ही नहीं कि उसे

स्मरण रखने का कष्ट उठाऊँ और उसे किसी से कहने जाऊँ। हाँ, यदि आप मेरे द्वारा किसी से कुछ कहलाना चाहें तो मैं उसे जैसी मेरी भाषा है उसके अनुसार अवश्य कह दूँगी, या जब कोई अवसर उस बात की पूर्ति का आयगा और मुझे उसका स्मरण आ जायगा तो कह दूँगी। अभी भी बहन के विवाह के सम्बन्ध में भी मुझसे यही हुआ था।

"अद्भुतचन्द्र—उसका वृत्तान्त तो मुझे ज्ञात हो गया राजकुमारी! इस प्रकार तो किसी बात के प्रकट होने में मैं भी कोई आपत्ति नहीं समझता। (कुछ ठहरकर) तो मैं निवेदन करूँ राजकुमारी?

"लीला—अवश्य।

"अद्भुतचन्द्र—आप मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगी।

"लीला—मेरे लिए धृष्टता ऐसी कोई वस्तु संसार में है ही नहीं मंत्री जी! फिर कृति की धृष्टता तो कुछ दूर तक समझ में भी आ सकती है पर शब्दों की धृष्टता हो क्या? न जाने इस शब्द को मनुष्य ने क्यों इतना महत्व दे रखा है।

"अद्भुतचन्द्र—और राजकुमारी! यदि मेरा कथन आपको युक्तिसंगत न जान पड़े तो उसे पीछे लिया ही समझिये।

"लीला—न मुझे शब्दों की धृष्टता समझ में आती और न कथन का पीछा लेना। जो शब्द निकल जाते हैं, वे पीछे किस प्रकार लिए जाते हैं, मेरी समझ में नहीं आता। अच्छा कहिये, क्या कहना है, इस लम्बी प्रस्तावना का अन्त कीजिये।

"अद्भुतचन्द्र—राजकुमारी ! आपका मुझ पर सदा प्रेम रहा है। अ...अ...अ (कुछ ठहर कर) ठहरिये, उस बात के कहने के पूर्व मैं एक बात और जान लेना चाहता हूँ राजकुमारी !

"लीला—वह भी जान लीजिये।

"अद्भुतचन्द्र—मेरे अतिरिक्त और किसी को भी आपने प्रेम दृष्टि से देखा है ?

"लीला—बहुतों को मन्त्री जी !

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य और खेद से) अच्छा !

"लीला—देखिये मैं अपनी मृगी को अत्यन्त प्रेम दृष्टि से देखती हूँ। मैं बंदरिया से बड़ा स्नेह करती हूँ। मैं बिल्ली को भी बहुत चाहती हूँ और मेरी शुकी की प्रीति में भी मेरा हृदय बड़ा स्निग्ध है।

"अद्भुतचन्द्र—वह सर्वथा दूसरी बात है राजकुमारी !

"लीला—कैसे ?

"अद्भुतचन्द्र—इस प्रकार तो मैं भी संसार की अद्भुत वस्तुओं—सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, दामिनी, इन्द्रधनुष, उषा, सन्ध्या; पर्वत, वन, नदियाँ सागर सभी से प्रेम करता हूँ।

"लीला—तब ?

"अद्भुतचन्द्र—परन्तु वे मनुष्य नहीं हैं। मनुष्यों में आप किसी को प्रेम दृष्टि से देखती हैं ?

"लीला—तो मन्त्री जी ! मनुष्य प्रेम व्यवहार में अन्य

वस्तुओं को साझीदार रख सकता है, मनुष्य को नहीं। फिर मैं तो अनेक मनुष्यों से भी प्रेम करती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य और खेद से) अच्छा!

"लीला—देखिये माता, बहन सभी को चाहती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—आह! वह भी नहीं राजकुमारी!

"लीला—क्यों, क्या ये मनुष्य नहीं हैं?

"अद्भुतचन्द्र—पर ये स्त्रियाँ हैं। किसी पुरुष को आप प्रेम दृष्टि से देखती हैं?

"लीला—हाँ।

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य और खेद से) अच्छा! किसे?

"लीला—पिता को देखती थी, आज मधु को देखती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—वह भी सर्वथा दूसरी बात है राजकुमारी!

"लीला—तब?

"अद्भुतचन्द्र—(झुँझला कर) लीजिये मैं सारी बात स्पष्ट ही कहे देता हूँ।

"लीला—अवश्य कहिये। मैं तो समझती थी अब तक भी आप सब बातें स्पष्ट ही कह रहे हैं।

"अद्भुतचन्द्र—जिस प्रेम के कारण आलिंगन, चुम्बन इत्यादि में (कुछ ठहर कर) आनन्द आता है, उस प्रेम की दृष्टि से।

"लीला—आह तब तो यह तीसरी ही बात हो गयी। इसका भी उत्तर लीजिये। मेरी बिल्ली को मैं आलिंगन करती हूँ

मन्त्री जी ! अपनी बंदरिया को भी। उनके मैं चुम्बन लेती हूँ मन्त्री जी ! बड़ा आनन्द भी आता है।

"अद्भुतचन्द्र—(और भी झुँझला कर) वह भी दूसरी बात है राजकुमारी ! वे मनुष्य नहीं हैं।

"लीला—यह चौथी बात है। मैं मधु को आलिंगन करती हूँ, उसके भी चुम्बन लेती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—ओह ! आपको कोई बात समझाना भी बहुत कठिन है। (कुछ सोच कर) अच्छा दूसरी प्रकार से पूछता हूँ।

"लीला—इस नवीन प्रकार का भी प्रयोग कर लीजिये।

"अद्भुतचन्द्र—आपको आलिंगन करने और आपके चुम्बन लेने का भी अधिकार आपने किसी को दे दिया है क्या ?

"लीला—जब से मैं उत्पन्न हुई तभी से। पिता जी को दिया था। माता जी को है, बहन को है, मधु को ... ...

"अद्भुतचन्द्र—ओह ! तब आपको किस प्रकार समझाया जाय।

"लीला—और कोई नवीन प्रकार के आविष्कार से। कई तो हो चुके। देखिये गिनकर बताती हूँ। पहला—प्रकार ...।

"अद्भुतचन्द्र—(बात काट कर) अच्छा, अच्छा सुनिये। नवीन प्रकार से पूछता हूँ।

"लीला—अच्छी बात है।

"अद्भुतचन्द्र—आपने अपना विवाह करने के सम्बन्ध से विचार किया है ?

"लीला—हाँ किया है, अच्छी प्रकार किया है।

"अद्भुतचन्द्र—(बहुत ही उदास होकर) तब तो आपने किसी पुरुष को चुन लिया होगा राजकुमारी !

"लीला—आप उदास क्यों हो गये ? मैंने किसी को चुना नहीं है।

"अद्भुतचन्द्र—(जल्दी से) तो क्या इसके लिए मैं अपने को आपके अर्पण कर सकता हूँ।

"लीला—हाँ क्यों नहीं, आपको अपनी इच्छानुसार अपने को अर्पण करने का अधिकार है। इसमें मुझे पूछने की क्या आवश्यकता है।

"अद्भुतचन्द्र—(हर्ष से) मेरा सौभाग्य। फिर प्रति अर्पण।

"लीला—(मुस्करा कर) ओह ! अब तो आप विज्ञान की भाषा में बात करने लगे। विज्ञान अद्भुत होता ही है। पर मैं तो उस पदार्थ के समान हूँ जो काउन्टर स्टीम्युलस नहीं देता।

"अद्भुतचन्द्र—आपको जिस प्रकार समझाना कठिन है, उसी प्रकार समझना भी कठिन है।

"लीला—(मुस्कराकर) मन्त्री जी मैंने विवाह न करने का निश्चय किया है।

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य से) यह क्यों राजकुमारी ? आपका रूप, आपका यौवन आपका सांसारिक सुख ... ...

"लीला—समझी। मंत्री जी ! पर विवाह से उसे सुख हो सकता है जो सदा एक दूसरे के साथ रहना चाहे और उस संग से न ऊबे। मैं तो एक के संग से बहुत शीघ्र ऊब जाती हूँ। माँ के साथ बहुत समय नहीं रह सकती उन्हें रोने का अभ्यास है मुझे हँसने का। वे पानी बरसाती हैं, मैं बादल गरजाती हूँ। मैं सदा न हँसूं तो मेरा हृदय मसोस सा जाता है। कभी कभी उनके सम्मुख हंसना दुस्साध्य हो जाता है। बहुत काल तक बहन के साथ भी मैं बातचीत नहीं कर सकती। उनके प्रेम की लगातार बातें मुझे पनचक्की के अविरल प्रवाह सी जान पड़ने लगती हैं। ज्ञात होता है मेरा हृदय उसीमें चक्कर लगाने लगा है। तेली का बैल भी बिना आँख बाँधे एकसा चक्कर नहीं लगा सकता, फिर मेरी तो बात ही क्या। मधु को बहुत समय तक गोद में रखती हूँ तो उसका भी मुझे भार लगने लगता है। अपनी बंदरिया, मृगी, शुकी और बिल्ली में से भी मुझे एक का साथ अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने चार को पाला है। विवाह से तो मैं घृणा करती हूँ मंत्री जी! घृणा। फिर मनुष्यों में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के विवाह में तो स्त्रीलिंग मनुष्य को पुल्लिग मनुष्य के हाथ में अपने आपको एक प्रकार से बेच देना पड़ता है। (कुछ ठहर कर) क्यों मन्त्री जी ! ठीक है न ?

"अद्भुतचन्द्र—(बहुत ही उदास होकर) क्या कहूँ राजकुमारी।

"लीला—विचार कर कहिएगा और यदि किसी से विवाह कर लेवें तो अनुभव से देखियेगा।"

कुछ संक्षिप्त उद्धरण

गोविन्ददास जी के सभी नाटक साहित्यिक भावों से भी ओत प्रोत भरे हुए हैं। उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं, मालोपमाओं तथा रूपकों एवं अन्य अनेक अर्थालंकारों का गद्य में ही समावेश है। अनेक स्थलों पर एक, एक, दो, दो छोटे छोटे वाक्यों में ही ऐसे भाव व्यक्त किये गये हैं कि वे हृदय में चुभ से जाते हैं और गद्य में ही उन वाक्यों को पढ़ते पढ़ते हिन्दी के एक महाकवि का निम्नलिखित दोहा स्मरण आये बिना नहीं रहता—

सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गंभीर॥

इस प्रकार के कुछ वाक्यों को स्थानाभाव के कारण उनके केवल दो सामाजिक और एक ऐतिहासिक नाटक से हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"ये तुम्हारे दोनों बच्चे क्या हैं; श्वेत और गुलाबी कमल के सुन्दर मिश्रण। तुम्हारे संग इन बच्चों का खेल ज्योत्स्ना के साथ कमल कुसुमों का खेल था।" —ईर्षा

"सुखी ग्रह रूपी हरे-भरे विपिन के लिए यह ईर्षा दव की चिनगारी है जो भीषण कृतियों रूपी वायु से प्रज्वलित हो इस सुखमय विपिन को नष्ट कर देगी।" —ईर्षा

"कितनों का उपकार किया जाता है इस संख्या से परमार्थ नहीं तौला जा सकता; वह तो परमार्थ करने वाले के भावों के बाटों से तोलने की वस्तु है।" —ईर्षा

"आँसू तो नेत्रों रूपी घड़ों में भरे ही रहते हैं; ढरका दिया और बह चले।" —ईर्षा

"प्रेम का अन्तिम रूप प्रेमी में अपने को विलीन कर देना है; वही करूँगी।" —ईर्षा

"जब तुम्हारा मुख मेरे सम्मुख आता है तब बहरे मनुष्य के समान मेरी दृष्टि तीव्र हो जाती है और जब तुम्हारा शब्द सुनती हूँ तब अन्धे मनुष्य के समान कान।" —ईर्षा

"प्रेमियों की सारी बातें उस खिलौने के सदृश जिसकी पेंदी में एक भारी सी वस्तु लगी रहती है, अन्त में प्रेम शब्द पर ही लौट आती हैं।" —ईर्षा

"जब तुम्हारे पत्र मुझे मिलते हैं तब मुझे उनके अक्षर प्रेम की बूँदों के समान, पंक्तियाँ प्रेम-समुद्र की ओर बढ़ती हुई प्रेम

सरिताओं के समान और सारा पत्र प्रेम-सागर के समान दिखायी देता है।" —ईर्षा

"प्रेम में प्रायः यह देखा गया है कि दो प्रेमियों में जो निर्बल होता है वही अधिक त्याग भी करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सबल के हृदय में निर्बल की अपेक्षा कम प्रेम रहता है, परन्तु सबल होने के कारण निर्बल से वह कदाचित् अधिक ग्रहण करने की शक्ति रखता है।" —ईर्षा

"भीतर की कालिमा से रँगी हुई कलम बाहर चटकीले रँगों के चित्र नहीं बना सकती। पैशाचिक इच्छाएँ देवताओं सा बाह्य मुख नहीं रहने दे सकतीं। फूहड़ता से सौन्दर्य की रचना नहीं की जा सकती। दुष्टता से अच्छाई का निर्माण नहीं हो सकता।" —ईर्षा

"अपनी ही धूर्तता के लगातार पान से अपना ही जी मचलाने लगता है और ऐसे अवसर भी उपस्थित होते हैं जब धूर्त अपनी ही धूर्तता का सर्व साधारण के सामने वमन करने के लिए आतुर हो उठता है।" —ईर्षा

"धूर्त और सत्यवादी के अहँकार में उतना ही अन्तर है जितना सर्प और केंचुए के लहराने में।" —ईर्षा

"मनुष्य को उसके कर्म सूर्य से भी अधिक प्रकाशवन्त और अमा रात्रि से भी अधिक श्याम बना सकते हैं।" —ईर्षा

"एक दिन आयगा जब समाज के लिए इन दुखियों की

आहें सर्प की फुंकार और इनके आँसू तूफानी नदियाँ हो जायँगी।" —ईर्षा

"जब निश्चित नैतिक सिद्धान्तों के पथ से जीवन-शकट विचलित होता है तब वह अन्धतम गर्त में गिरे बिना बीच में कहीं रुक ही नहीं सकता।" —ईर्षा

"हृदय के तूफान के समय बाहरी शान्ति असंभव है।"
—ईर्षा

"वह कष्ट तो एक विचित्र प्रकार का कष्ट था। कदाचित् उस कष्ट के समान, जो पृथ्वी को नये पौधों के उगते समय होता होगा।" —दलित कुसुम

"दो शब्द कह कर मेरे कानों की क्षुधा या थोड़ा सा मुस्करा कर मेरे नेत्रों की तृषा को शान्त करो।" —दलित कुसुम

"उसके शब्द तालाब में पत्थर फेंकने के शब्द से अधिक प्रभाव उत्पन्न न कर सके।" —दलित कुसुम

"मैं उस स्वरूप को शुद्ध से शुद्ध जल का कमल मानती थी, पर वह तो गँदले से गँदले कीचड़ का घोंघा निकला। मुझे वे वाक्य सुधा से लगते थे, पर उनमें तो वह क्षार भरा था जो शर्करा में रहता है, और जिसका स्वाद नहीं आता।"
—दलित कुसुम

"सुख का और मेरा न जाने कितने दीर्घकाल से वियोग हो गया है।" —दलित कुसुम

"उन्होंने मेरे शान्ति चाहने वाले जीवन पर युद्ध की घोषणा की है।" —दलितकुसुम

"जब कभी भी मनुष्य बुरे ढंग से बातचीत करने पर कटिबद्ध होता है, तब सब से पहले वह उपदेश पूर्ण भाषण की शरण लेता है।" —दलित कुसुम

"मनुष्य का प्रगति, प्रगति चिल्लाना पागलपन, मनुष्यता, मनुष्यता चिल्लाना स्वप्न और क्रान्ति, क्रान्ति चिल्लाना धोखा है।" —दलित कुसुम

"मेरा सारा जीवन एक 'रहित' शब्द के अन्तर्गत है।" —दलित कुसुम

"चाहे कैसा ही प्रेम क्यों न हो, उसकी पहली निश्वास बुद्धिमत्ता की अन्तिम निश्वास है।" —कुलीनता

"कैसा उसका सौन्दर्य था? अर्द्धविकसित कुसुम अथवा द्वितीया की चन्द्ररेखा से ही उसकी तुलना की जा सकती है। (कुछ रुककर घृणा से) नहीं, नहीं एक वस्तु से और; प्रज्वलित अग्नि-शिखा से।" —कुलीनता

"कुलीनता में प्रेम पारदराशि के समान रहता है, जिसे स्थिर रखना कठिन ही नहीं असंभव है।" —कुलीनता

"सच्चा साहस मृत्यु से नहीं डरता और न सच्चा चरित्र-बल सत्ता से।" —कुलीनता

"शत्रुओं के पाद-चुम्बन की अपेक्षा तो क्षण भर के लिए उनके मस्तक पर प्रज्वलित होकर मर जाना कहीं अच्छा है।"

—कुलीनता

"जिस समाज का मस्तिष्क और शास्त्रीय-ज्ञान मोल लिया जा सकता है, उसके उद्धार की कोई संभावना नहीं रह जाती।"

—कुलीनता

"जब किसी महान सिद्धान्त की रक्षा के लिए रक्तपात होता है तब उस रक्तपात पर वह सिद्धान्त मुस्कराता है। रक्त पात से समाज पर जो घाव लगते हैं उसे समाज इस सिद्धान्त की मुस्कराहट को देख कर भूल जाता है।" —कुलीनता

"हृदय कोई रथचक्र नहीं कि जिधर घुमाया उधर ही घूम जाय।" —कुलीनता

"संसार का कोई भी युद्ध बिना किसी विशेष, और महान उद्देश्य के सफलता पूर्वक नहीं लड़ा जा सकता; इसीलिए इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जहाँ छोटी छोटी सेनाओं ने बड़ी बड़ी सेनाओं पर विजय प्राप्त की है।"

—कुलीनता

"सबसे बड़ी निर्बलता, निर्बलता का प्रदर्शन है।"

—कुलीनता

"प्रतिहिंसा हिंसा पर आघात कर सकती है, उदारता पर नहीं।" —कुलीनता

"ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो अपराधी न हो; ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसे क्षमा की आवश्यकता न हो।" —कुलीनता

"संसार में कार्य का महत्व है और कार्य ही कुलीनता की कसौटी है।" —कुलीनता

"मित्र के संग जीवन के दुख भी सुख से सहन किये जा सकते हैं, पर मित्र के बिना सुखीजीवन भी भार स्वरूप हो जाता है। संसार में सब से बड़ा दुख मित्र का न होना है।" —कुलीनता

"पश्चात्ताप निरर्थक है। पश्चात्ताप से मनुष्य को पीछे की ओर देखना पड़ता है। सुख या दुख, किसी भी परिस्थिति में, मनुष्य को पीछे न देख कर सामने की ओर ही दृष्टि रखनी चाहिए।" —कुलीनता

गोविन्ददास जी के नाटकों का मिलान हिन्दी के अन्य नाटककारों के नाटकों से नहीं किया जा सकता। पहले तो हिन्दी में नाटक ही इने-गिने हैं, और जो हैं वे गोविन्ददास जी के 'स्कूल' के न होकर 'रोमान्टिक' स्कूल के हैं। गोविन्ददास जी इबसन के अनुयायी हैं, अन्य नाटककार शेक्सपियर के। हिन्दी क्या अन्य भारतीय भाषाओं में भी अभी गोविन्ददास जी के 'स्कूल' के नाटक नहीं लिखे गये हैं, और लिखे भी गये होंगे तो बहुत कम। गोविन्ददास जी के नाटकों का इबसन, बर्नार्ड शा आदि पश्चिम के किसी भी सफल नाटककार से

सफलता-पूर्वक मिलान किया जा सकता है। इतने पर भी यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि रंग मंच पर लाने के लिए इन नाटकों में काफी परिवर्तन आवश्यक है। बात यह है कि योरप में छपने के पूर्व नाटक रंग मंच पर खेल लिये जाते हैं। भारत में हिन्दी का कोई रंग मंच ही नहीं। इसके सिवा गोविन्ददास जी के नाटक गंभीर साहित्य के अंग हैं, सरल साहित्य के नहीं। जहाँ गोविन्ददास जी गंभीर भावों को व्यक्त करने में सफल हुए हैं, वहाँ उन्हें हास्य रस आदि के प्रतिपादन में विफलता ही मिली है।

यद्यपि गोविन्ददास जी के नाटकों का हिन्दी में यथेष्ट आदर हुआ है, 'कर्तव्य' नाटक कलकत्ता विश्व-विद्यालय के एम० ए० कोर्स तक में नियुक्तहै, फिर भी जैसा आदर होना चाहिए वैसा नहीं हुआ। इसके कारण हैं। सबसे पहला कारण तो यह है कि आदर प्रचार पर निर्भर है और हिन्दी भाषा के ग्रन्थों का प्रचार ही बड़ी कठिनाई से होता है। दूसरा कारण यह है कि उनके सभी नाटक प्रकाशित नहीं हुए और जो प्रकाशित हुए हैं उनके प्रचार का कोई उद्योग नहीं किया गया। और तीसरा कारण यह है कि हिन्दी में आलोचकों की भयानक रूप से कमी है। परन्तु जो वस्तु स्थायी महत्व की है, उसके प्रचार में यदि विलंब भी हो जाय, तो इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। गोविन्ददास जी के नाटक क्षणिक महत्व नहीं रखते। उनमें से अधिकांश मनुष्य जीवन की स्थायी

समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं और कभी न कभी इन नाटकों का उपयुक्त स्थान उन्हें प्राप्त होकर ही रहेगा। महाकवि भवभूति ने कहा था—

"येनाम के चिदिहनः प्रथयन्त्यवज्ञां।
जानन्तु ते किमपितान् प्रतिनेषयत्न॥
उत्पत्स्यतेऽस्ति ममकोऽपि समानधर्मा।
कालोह्ययं निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी॥"

कई विद्वानों को गोविन्ददास जी के नाटक इतने पसन्द आये हैं कि इनके अंग्रेज़ी, मराठी और गुजराती अनुवाद का प्रयत्न हो रहा है। पराधीनता के कारण हमें अपनी आँखों की अपेक्षा शायद दूसरे की आँखों से अधिक दिखायी देता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सदृश विभूति को हम तब तक पूर्ण रीति से न पहचान सके जब तक उन्हें 'नोबल' पुरस्कार नहीं मिला। गोविन्ददास जी के नाटकों का अँग्रेज़ी अनुवाद ही शायद उन्हें उनका समुचित स्थान दिलावेगा।

जिस व्यक्ति ने अपने अढ़ाई वर्ष के जेल जीवन में तेरह नाटक लिख डाले, और वे भी उत्तम कोटि के, वह यदि अपना समय इस कार्य में लगावे तो किसी भी पश्चिमी साहित्यकारों के सदृश जिल्दें की जिल्दें लिख जाने वाला लेखक हो सकता है।

गोविन्ददास जी के मस्तिष्क में नाटकों के लिए न जाने कितनी समस्याएँ, कितनी कथाएँ, कितने चरित्र, कितनी

कल्पनाएँ, उठा करती हैं। कभी कभी वे उन्हें नोट भी कर लेते हैं, पर अधिकतर तो इस प्रकार नोट करने का भी उन्हें समय नहीं मिलता। मस्तिष्क के ये भाव उठते और विलीन हो जाते हैं। 'विश्व-प्रेम' नाटक के सन् १९१७ में लिखने के बाद बारह वर्ष के पूरे एक युग के पश्चात् उन्होंने लेखनी उठायी थी। १९३४ को ५ वर्ष फिर बीत गये। मालूम नहीं अब फिर कब लेखनी का आह्वान होता है।

समाप्त